मुक्ति संग्राम

वर्ष 1 • अंक 3 • नवंबर 2023 • मासिक • क़ीमत 10 रुपए • प्रकाशन स्थान – ज़िला लुधियाणा (पंजाब)

भारत के पूँजीपतियों की धन-दौलत में बड़ा इज़ाफ़ा और मेहनतकश जनता के लगातार बिगड़ते हालात

पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म किए बिना अमीरी-ग़रीबी की खाई और जनता की ग़रीबी-बदहाली का ख़ात्मा संभव नहीं

संपादकीय

अमीरी-ग़रीबी की खाई का लगातार गहरा और चौड़ा होते जाना निजी संपत्ति और मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था का लाजिमी लक्षण है। एक तरफ़ मुट्ठीभर पूँजीपतियों के पास धन-दौलत का अंबार लगातार बढ़ता जाता है और दूसरी तरफ़ मज़दूरों-मेहनतकशों की ग़रीबी-बदहाली बढ़ती जाती है। पूँजीवादी व्यवस्था के कारण भारत में भी यही हो रहा है।

10 अक्टूबर 2023 को जारी हुई 'हारून इंडिया रिच लिस्ट 2023' में खुलासा हुआ है कि भारत में 1000 करोड़ रुपए से अधिक संपत्ति वाले पूँजीपतियों की संख्या अब 1319 हो गई है। साल 2022 में यह संख्या 1103 थी और साल 2021 में यह संख्या 1007 थी। यानी दो साल में ही भारत के 'एक हज़ार करोड़ियों' में 293 नए पूँजीपति शामिल हो गए हैं।

मुकेश अंबानी इस समय भारत का सबसे ज़्यादा अमीर पूँजीपति है। वह 80.8 खरब रुपए की संपत्ति का मालिक है। साल 2022 के मुक़ाबले उसकी संपत्ति 2 प्रतिशत बढ़ी है। उसके बाद दूसरा स्थान गौतम अदाणी का है। हालाँकि इससे पहले अदाणी पहले नंबर पर था, लेकिन हिंडनबर्ग रिपोर्ट आने के बाद उसकी संपत्ति 57 प्रतिशत कम हो गई। अब गौतम अदाणी 47.4 खरब रुपए की संपत्ति का मालिक है। साल 2019 से लेकर अब तक उसकी संपत्ति में पाँच गुणा वृद्धि हुई है। साल 2019 में उसके पास 94500 करोड़ रुपए की संपत्ति थी। प्रधानमंत्री मोदी के साथ उसके नज़दीकी संबंध किसी से छिपे नहीं रहे। एक-दूसरे का साथ पाकर ये हर दिन और ज़्यादा ताकतवर बनते गए हैं।

तीसरे नंबर पर सीरम इंस्टीच्यूट ऑफ़ इंडिया का मालिक सायरस पूनावाला है। उसकी आमदनी में साल 2023 में 36 प्रतिशत की बढ़ौतरी (73100 करोड़ रुपए) हुई है। अब उसके पास 27.8 खरब रुपए दौलत है। एच.सी.एल. टेक का मालिक शिव नादार चौथे नंबर पर है। उसके पास 22.8 खरब रुपए की संपत्ति है। साल 2023 के दौरान उसकी संपत्ति में 23 प्रतिशत की बढ़ौतरी हुई है।

अब ज़रा ऑक्सफ़ैम की जनवरी 2023 में जारी हुई रिपोर्ट के आँकड़ों को देखें। साल 2017 में भारत की कुल आबादी के 1 प्रतिशत अमीर व्यक्तियों के पास कुल दौलत का 67 प्रतिशत हिस्सा था, जो 2022 के अंत तक बढ़कर 77 प्रतिशत हो गया है। इस तरह पाँच सालों में 10 प्रतिशत क़ब्ज़ा बढ़ा गया। इसका अर्थ है कि बाक़ी 99 प्रतिशत आबादी के पास बाक़ी 33 प्रतिशत दौलत है। लेकिन इसमें से भी ज़्यादातर हिस्सा तो अमीरों के पास ही है। रिपोर्ट के मुताबिक़ निचली सबसे ग़रीब 50 प्रतिशत आबादी के पास कुल दौलत का सिर्फ़ 3 प्रतिशत है। लेकिन विडंबना देखिए, यह 50 प्रतिशत आबादी की "आमदनी" में अप्रत्यक्ष टैक्सों का प्रतिशत, बीच की 40 प्रतिशत आबादी और 10 प्रतिशत सबसे अमीर आबादी से भी ज़्यादा है। इसके साथ ही, कुल जी.एस.टी. का करीब 65 प्रतिशत हिस्सा निचली 50 प्रतिशत आबादी देती है, सिर्फ़ 3-4 प्रतिशत ही सबसे अमीर 10 प्रतिशत आबादी द्वारा दिया जाता है। बाक़ी का हिस्सा बीच की 40 प्रतिशत आबादी देती है।

भारत के बिलेनियरों में 32 स्वास्थ्य क्षेत्र के हैं। वहीं स्वास्थ्य संबंधी बढ़ते जा रहे ख़र्चों के कारण हर साल 6.3 करोड़ लोग, यानी हर सेकंड में दो लोग, ग़रीबी रेखा के नीचे धकेले जा रहे हैं। कुल दुनिया में गर्भावस्था के दौरान स्त्रियों की होने वाली मौतों में 17 प्रतिशत भारत में होती हैं। पाँच साल से कम उम्र के बच्चों की 21 प्रतिशत मौतें भारत में होती हैं।

रिपोर्ट के मुताबिक़ मैन्यूफ़ैक्चरिंग उद्योग में 31 बिलेनियर हैं। लेकिन दूसरी तरफ़ हम देखते हैं कि इन उद्योगों में काम करने वाले अधिकतर मज़दूर 7 से 10 हज़ार मासिक वेतन पर काम कर रहे हैं। ज़्यादातर मज़दूरों को न्यूनतम वेतन, ई.एस.आई., ई.पी.एफ़., बोनस, कमाई छुट्टियाँ, कारख़ानों में हादसों से बचाव की व्यवस्था, साफ़ पाखानों, पीने का साफ़ पानी जैसे न्यूनतम अधिकार भी हासिल नहीं होते। असल में मज़दूरों की मेहनत की कमाई लूट कर ही तो पूँजीपतियों के पास ये सारी धन-दौलत जमा हुई है।

जहाँ भारत में थोड़े-से पूँजीपतियों के पास बेहिसाब पैसा है, वहीं दूसरी ओर भुखमरी के सारे रिकॉर्ड भी टूटते जा रहे हैं। विश्व भुखमरी सूचकांक–2023 में भारत का 125 देशों में 111वाँ नंबर है। इस मामले में भारत की हालत पाकिस्तान (102वें), बांग्लादेश (81वें), नेपाल (69वें) और श्रीलंका (60वें) से भी बुरी है। 15 से 24 साल की 58 प्रतिशत लड़कियाँ अनीमिया (ख़ून की कमी) बीमारी का सामना कर रही हैं।

(पन्ना 2 पर जारी)

इस अंक में

- भारत के पूँजीपतियों की धन-दौलत में बड़ा इज़ाफ़ा और मेहनतकश जनता के लगातार बिगड़ते हालात 1
- क्रिकेट की चमक के पीछे छिपा खेल उद्योग के मज़दूरों का शोषण! 3
- मनरेगा योजना के खात्मे की लगातार हो रही कोशिशें 3
- एक कैंटीन मज़दूर से बातचीत 4
- मोदी सरकार द्वारा न्यूज़क्लिक की ज़ुबानबंदी की घटिया कोशिश 5
- गाज़ा से एक चिट्ठी 6
- फ़िलस्तीन पर दो कविताएँ 7
- मेहनतकश लोगों के बच्चों के प्रति सरकार की बेरुख़ी 7
- अदारा 'प्रतिबद्ध' द्वारा पुस्तक लोकार्पण समारोह और विचार-चर्चा का आयोजन 8
- ट्रेड यूनियन नेता लखविंदर पर दमन की साज़िश को जनदबाव ने किया नाकाम 8
- पूँजीवादी चुनावों में भागीदारी के बारे में कॉमरेड लेनिन के विचार 9
- हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड में "विकास" प्रोजेक्टों से हो रहा विनाश 10
- हम यहाँ लूटमार करने नहीं, बल्कि क्रांति करने आए हैं 11
- भ्रूण हत्या – 2030 तक 68 लाख गर्भ में क़त्ल हो जाएँगे? 12
- सतलुज-यमुना लिंक नहर के निर्माण का भारत सरकार का अन्यायपूर्ण फ़ैसला 13
- मोदी सरकार के नए पर्यावरण क़ानूनों का जनविरोधी चरित्र 14
- इज़रायली कब्ज़े के ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीनी जनता का संग्राम 16

मुक्ति संग्राम

दफ़्तर फ़ोन नं.– 83607-66937 **ईमेल –** muktisangram.hindi@gmail.com

सहयोग राशि - एक प्रति - 10 रुपए

सालाना - 120 रुपए (डाक के जरिए - 150 रुपए)

मुक्ति संग्राम के लिए सहयोग राशि नीचे दिए गए बैंक खाते/UPI के ज़रिए भेजें।
राशि भेजकर उपरोक्त फ़ोन नंबर पर सूचित ज़रूर कर दें।

UPI No. – 1851 1951 और 83607 66937

Lakhwinder Singh

A/c No. – 5514 000 7508

STATE BANK OF INDIA

BRANCH – Khanna NGM

IFSC CODE – SBIN0050171

UPI ID

MUKTISANGRAAM@SBI

मुक्ति संग्राम यहाँ से प्राप्त करें

- **शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, #498, एल.आई.जी. फ़्लैट्स, जमालपुर कालोनी, लुधियाणा – 83607-66937**
- **मज़दूर पुस्तकालय, #4135, ई.डब्ल्यू.एस. कालोनी, ताजपुर रोड, लुधियाणा – 85910-90800**
- **जनचेतना, दुकान नं. 8, पंजाबी भवन, लुधियाणा – 70429-76396**
- **मानव, चंडीगढ़ – 98888-08188**
- **पावेल, सिरसा – 86078-89902**
- **मनन, शिमला – 98162-37848**

भारत के पूँजीपतियों की धन-दौलत में बड़ा इज़ाफ़ा

(पन्ना 1 से आगे)

एक रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत में करीब 18 करोड़ लोग बेघर हैं। करीब इतनी ही संख्या झुग्गियों में रहने वाले लोगों की है।

मज़दूरों-मेहनतकशों की हालत में सुधार के लिए फ़ौरी तौर पर होना तो यह चाहिए कि सभी मज़दूरों के क़ानूनी श्रम अधिकार सख़्ती से लागू करवाए जाएँ, न्यूनतम वेतन 26 हज़ार किया जाए, ओवरटाइम का दोगुना भुगतान का क़ानूनी अधिकार लागू करवाया जाए, इ.एस.आई., ई.पी.एफ़., बोनस जैसे अधिकार लागू करवाए जाएँ, क़ानूनी श्रम अधिकारों का दायरा बढ़ाया जाए। लेकिन सरकारें श्रम क़ानूनों में मज़दूर विरोधी बदलाव कर रही हैं। यहाँ तक कि 12 घंटे कार्यदिवस को मान्यता तक दी जा रही है। जैसा कि पंजाब की भगवंत मान सरकार ने नोटीफ़िकेशन जारी करके एक दिन में क़ानूनी तौर पर संभव ओवरटाइम के घंटे 2 से बढ़ाकर 4 कर दिए हैं। अगर मज़दूरों के क़ानूनी श्रम अधिकारों को सख़्ती से लागू करवाया जाता है, तो भी मज़दूरों की ज़िंदगी में उल्लेखनीय बेहतरी आ सकती है।

इसके साथ ही मज़दूरों-मेहनतकशों की बेहतरी के लिए ज़रूरी है कि सरकारें पूँजीपतियों पर भारी टैक्स लगाएँ, इनके द्वारा सरकारी बैंकों से लिए क़र्ज़ तुरंत वसूले जाएँ, इनके द्वारा सरकारी ज़मीनों आदि संपत्ति पर किया गया क़ब्ज़ा छुड़वाया जाए, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। बल्कि उलटा हो रहा है। उदाहरण के तौर पर मोदी सरकार ने अपने पहले आठ सालों के दौरान पूँजीपतियों का 12 लाख करोड़ रुपए से भी ज़्यादा का क़र्ज़ माफ़ कर दिया है।

लेकिन बुनियादी बात यह है कि पूँजीपति वर्ग का समाज के एक भी पैसे पर हक़ नहीं बनता। समाज की सारी धन-दौलत मज़दूरों-मेहनतकशों की ही पैदा की हुई है। उनकी ही मेहनत पर सारा समाज टिका हुआ है। सारी धन-दौलत पर उनका ही हक़ है। जब तक यह हक़ हासिल नहीं होता, तब तक उनकी ज़िंदगी में कोई बुनियादी बदलाव नहीं आने वाला। जब तक पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी, तब तक अमीरी-ग़रीबी की खाई, ग़रीबी-बदहाली कायम रहेगी, बढ़ती रहेगी, अधिकारों का हनन जारी रहेगा। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था का ख़ात्मा करना, पूँजीपतियों से समूची संपत्ति से क़ब्ज़ा छुड़वाना होगा। लेकिन जब तक मज़दूर वर्ग की राज्यसत्ता कायम नहीं होती, तब तक ऐसा संभव नहीं है। पूँजीपतियों का आज समाज की संपत्ति पर नाजायज क़ब्ज़ा भी इनकी राज्यसत्ता द्वारा ही कायम है। इसलिए मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में जनक्रांति ज़रूरी है, पूँजीपति वर्ग की तानाशाही की जगह मज़दूर वर्ग की तानाशाही – समाजवादी राज्यसत्ता – कायम करना ज़रूरी है। इसके लिए ज़रूरी है कि मज़दूरों के नेतृत्व में मज़दूरों-मेहनतकशों का देश-स्तरीय क्रांतिकारी आंदोलन हो। मज़दूर वर्ग को नेतृत्व देने वाली एक क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी हो। व्यापक आधार वाले जनसंगठन हों और तरह-तरह की संस्थाएँ हों। इसके लिए लगातार अनथक काम करना होगा।

मज़दूर साथियो,
मुक्ति संग्राम आपका अपना अख़बार है। आप अपने कारख़ाने, अपनी बस्ती में मज़दूरों-मेहनतकशों के हालातों के बारे लिखकर भेजिए। समाज में मज़दूरों-मेहनतकशों के साथ होने वाली बेइंसाफ़ी, लूट-शोषण-उत्पीड़न के और संघर्षों के अपने तजुर्बों के बारे में लिखकर भेजिए। आपको मुक्ति संग्राम में छपी सामग्री कैसी लगती है, आपको इसमें क्या कमियाँ-कमज़ोरियाँ नज़र आती हैं – बेझिझक लिखकर भेजिए। आपके सुझाव मुक्ति संग्राम को बेहतर बनाने के लिए बहुत ज़रूरी हैं।

– संपादक, मुक्ति संग्राम

ऑनलाइन 'मुक्ति संग्राम' पढ़ने के लिए नीचे दिए गए साइट और फ़ेसबुक पन्ने के लिंक पर जाएँ :

साइट – muktisangram.wordpress.com

फ़ेसबुक पन्ना – facebook.com/muktisangrammag

मुक्ति संग्राम के लेख-टिप्पणियाँ और अन्य साम्रगी अपने वट्सअप पर मगँवाने के लिए अपना वट्सअप नंबर और पता इस नंबर पर भेजें :

83607-66937

क्रिकेट की चमक के पीछे छिपा खेल उद्योग के मज़दूरों का शोषण!

आजकल भारत में आई.सी.सी. का क्रिकेट विश्व कप चल रहा है। मीडिया से लेकर फ़िल्मी कलाकारों तक सबको इसकी खुमारी चढ़ी हुई है। एक अनुमान के मुताबिक़ इस विश्व कप के प्रसारण के दौरान इश्तिहार लगवाने की लागत 3600 डॉलर प्रति सेकंड है। विश्व कप की इनामी राशि 40 लाख डॉलर है। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों के अनुमान के मुताबिक़ यह टूर्नामेंट भारत की अर्थव्यवस्था में 22,000 करोड़ रुपए जोड़ेगा। क्रिकेट भारत में सबसे मशहूर खेलों में से एक है। जिससे भारत में क्रिकेट चलाने वाली संस्था बी.सी.सी.आई. ने साल 2018 से 2022 में 27000 करोड़ की कमाई की। पर क्या आप जानते हैं कि भारत में खेले जाने वाले क्रिकेट मैचों के दौरान इस्तेमाल की जाने वाली गेंद बनाने वाले मज़दूर किस तरह के हालातों में अपनी ज़िंदगी जीते हैं? ये मज़दूर बहुत कम वेतन पर, बहुत बुरे हालातों में यह गेंद बनाते हैं। इन मज़दूरों की ज़िंदगी की यह त्रासदी है कि क्रिकेट जैसे अमीर खेलों में इस्तेमाल होने वाला सामान बनाने के बावजूद भी इनकी ग़रीबी दूर नहीं होती। मेरठ में क्रिकेट गेंद बनाने वाले एक मज़दूर का कहना है: "कोई भी जीते हमें क्या फ़र्क़ पड़ता है, खेल का असली कारीगर तो खिलाड़ी को ही समझा जाता है।" इससे बड़ी त्रासदी और क्या होगी कि दिन-रात मेहनत करके क्रिकेट गेंद बनाने वाले मज़दूरों को यह मैच देखने का भी समय नहीं मिलता!

भारत में खेल उद्योग मुख्य तौर पर जलंधर और मेरठ में है। 1947 में पंजाब के बँटवारे के बाद, सियालकोट से उजड़कर आए खेल का सामान बनाने वाले कारीगरों ने इन शहरों में फिर से अपना काम शुरू कर दिया। भारत में खेलों के सामान की पूर्ति मुख्य रूप में इन दो जगहों पर लगे उद्योग से ही पूरी होती है। बाक़ी खेलों के उलटा, क्रिकेट की गेंद बनाने का काम अभी भी ज़्यादातर हाथों से ही किया जाता है। यह काम बहुत जटिल होता है और मज़दूरों को इस काम में कौशल हासिल करने में काफ़ी समय लगता है। इस काम में लगे ज़्यादातर मज़दूरों को यह हुनर पीढ़ी-दर-पीढ़ी मिलता है, हालांकि अब इस पेशे में मशीनों की अहमियत भी बढ़ रही है।

तैयार होने से पहले एक गेंद 10 अलग-अलग प्रक्रियाओं से गुज़रती है। 11 कारीगर जो अपने-अपने काम में कुशल होते हैं, मिलकर इस गेंद को तैयार करते हैं। चमड़े का काम होने के कारण इस काम में ज़्यादातर दलित और मुसलमान ही आते थे, पर पिछले कुछ समय में बड़ी जातियों के लोग भी इस पेशे में आ गए हैं। यह परिघटना भारत में हुए पूँजीवादी विकास के चलते जातिवादी व्यवस्था में आए बदलाव को भी दर्शाती है। चमड़े को धोने से लेकर, इसे गेंद के आकार में काटने, सिलाई करने, पॉलिश करने जैसे काम अलग-अलग मज़दूर करते हैं। तैयार होने के बाद अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गेंद की क़ीमत 2000 से 3500 रुपए तक होती है, पर मज़दूरों को प्रति गेंद 30-35 रुपए ही मिलते हैं। यह गेंद भारत में होने वाले टूर्नामेंटों से लेकर विदेशों में भी निर्यात की जाती है। ये पैसे भी सभी कारीगरों को नहीं मिलते। सिर्फ़ सिलाई करने वाले को ही इतने पैसे हासिल होते हैं। गेंद की सिलाई के काम में मज़दूरों को 7 से लेकर 30 रुपए प्रति गेंद मिलते हैं। ज़्यादातर मज़दूरों का मासिक वेतन 10,000 रुपयों से भी कम है!

इस काम में मज़दूरों को लंबे समय तक नज़र टिकाकर रखने की ज़रूरत होती है। थोड़ी-सी नज़र हटने या हाथ काँपने से हाथ ज़ख्मी हो सकता है। एक भी सिलाई ग़लत लग जाए तो सारी गेंद खराब हो जाती है और मालिक मज़दूरों को कोई पैसा नहीं देते। एक उम्र के बाद आँखों की रोशनी कम होने के कारण इन मज़दूरों को काम से निकाल दिया जाता है। इतने साल एक ही काम करने के बाद कोई अन्य काम सीखने की कोई गुंजाइश भी नहीं रहती। क्योंकि मज़दूर गेंद बनाने के एक ख़ास हिस्से का ही काम जानते होते हैं, इसलिए वे अपने रोज़गार के लिए इसी उद्योग पर निर्भर होते हैं। माल के ऑर्डर भी कुछ ख़ास सीजन में ही आते हैं। असंगठित उद्योग होने के कारण, श्रम क़ानूनों के पूर्ण अभाव में इन मज़दूरों को और भी बदतर शोषण का शिकार होना पड़ता है। काम से हटने के बाद किसी भी बीमारी की हालत में मज़दूरों के लिए किसी भी तरह की सामाजिक सुरक्षा का कोई प्रबंध नहीं होता। इस क्षेत्र में मज़दूर यूनियनों का कोई ख़ास आधार नहीं है, जिसके कारण मालिक वेतन से लेकर, काम के घंटों तक, हर चीज़ में अपनी मर्ज़ी चलाते हैं। साल 2017 में मोदी सरकार द्वारा देश में गौ-हत्या पर पाबंदी लगाने के कारण चमड़े के रेट बढ़ने की वजह से मज़दूरों की छँटनी की गई। इसके बिना कोरोना तालाबंदी के कारण भी खेल उद्योग को काफ़ी नुक़सान हुआ जिसका बोझ मालिकों ने मज़दूरों पर ही डाला। मज़दूर बताते हैं कि कई बार मालिक 2 हफ़्ते तक तनख़्वाह नहीं देता था।

पर अफ़सोस क्रिकेट मैचों की चमक के पीछे इन मज़दूरों की नरक भरी ज़िंदगी समाज की नज़र से छिप जाती है। फ़ैक्टरी में काम करने वाले एक मज़दूर ने कहा है: "खिलाड़ी सिर्फ़ चमकती हुई गेंद पहचानते हैं।"

मनोरंजन के साधन बनाने वाले मज़दूर की ख़ुद उन चीज़ों तक पहुँच नहीं है। उसकी ज़िंदगी सिर्फ़ मेहनत करते गुज़र जाती है। यही इस पूँजीवादी व्यवस्था की कड़वी सच्चाई है। इसकी सारी चमक-धमक, फ़ैक्टरी के बाहर ही दिखाई देती है। एकजुट संघर्ष के बिना मज़दूरों के लिए इस व्यवस्था में दुख-तकलीफ़ों और अँधेरे के सिवा और कुछ नहीं है। सिर्फ़ अपने एकजुट संघर्षों द्वारा ही मज़दूर इस अँधेरी व्यवस्था को तोड़कर एक बेहतर ज़िंदगी का निर्माण कर सकते हैं।

– गुरप्रीत अमृतसर

मनरेगा योजना के खात्मे की लगातार हो रही कोशिशें

इस साल के "आज़ादी" दिवस पर भारत सरकार ने मध्य प्रदेश से बस्तियाँ बानो को "सम्मानित" करने के लिए दिल्ली बुलाया था। बस्तियाँ बानो एक मज़दूर औरत है जो मध्य प्रदेश के छिंदवाड़ा ज़िले की रहने वाली है, उसने गाँव में मनरेगा काम के दौरान 95 दिन काम किया था। इससे ख़ुश होकर मोदी सरकार ने उसे इतना बढ़ा ईनाम दिया है। उसे लाल क़िले से मोदी का भाषण सुनने के लिए दिल्ली बुलाया गया। मोदी सरकार ऐसे ढोंग रचकर जनता को बेवक़ूफ़ बनाना चाहती है। लेकिन मनरेगा मज़दूर जो साल के शुरू में 100 दिन का दिल्ली जंतर मंतर पर धरना-प्रदर्शन करके गए, सरकार द्वारा ना तो उनके बारे में कोई बात की गई और ना उनका कोई मसला ही हल किया गया है। वास्तव में मनरेगा मज़दूर साल के शुरू से ही भारत सरकार की मनरेगा योजना के संबंध में दो नीतियों, एक मनरेगा मज़दूरों की हाज़िरी और एक मनरेगा मज़दूरों के वेतन के भुगतान के संबंध में किए गए बदलाव के विरोध में रोष जता रहे हैं।

पूरे मसले को जानने से पहले मनरेगा योजना क्या है, हम इसके बारे में जानते हैं।

मनरेगा योजना 2005 में तब की कांग्रेस के नेतृत्व वाली 'संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन' (यू.पी.ए.) सरकार द्वारा शुरू की गई थी। इससे गाँव के क्षेत्र के अशिक्षित मज़दूरों और छोटे किसानों को रोज़गार दिया जाना था। इसमें एक तिहाई औरतों की भागीदारी लाज़मी की गई। इसके मुताबिक़ साल में 100 दिन का रोज़गार देने की सरकार गारंटी लेती है। इसमें तालाबों की ख़ुदाई, भराई और सफ़ाई, नहरों पर पुलों के निर्माण, सड़कें-गलियाँ बनाने का काम आदि शामिल हैं। यह योजना अब भारत के सारे ज़िलों में लागू हो चुकी है। यह योजना भी कांग्रेस सरकार ने कोई जनता की भलाई के लिए नहीं, बल्कि अपनी सत्ता के लिए जोड़-तोड़ के लिए शुरू की थी। इस क़ानून के मुताबिक़ पंचायत द्वारा जनता के रोज़गार कार्ड बनाए जाते हैं। काम लेने के लिए पहले अर्जी देनी पड़ती है और इस अर्जी के 15 दिनों के अंदर-अंदर रोज़गार दिया जाना चाहिए होता है। रोज़गार ना मिलने की हालत में बेरोज़गारी भत्ते की सुविधा की मद शामिल है।

अब इस साल के शुरू से ही मनरेगा मज़दूरों के दो मुद्दे गरमाए हुए हैं। मोदी सरकार ने मनरेगा मज़दूरों की हाज़िरी के लिए एक नया प्रबंध बनाया है जिसे 'राष्ट्रीय मोबाइल निगरानी प्रबंध' जिसे संक्षेप में एन.एम.एम.एस. कहा जा रहा है। दूसरा है, आधार कार्ड आधारित भुगतान प्रबंध जिसे संक्षेप में ए.बी.पी.एस. कहा जा रहा है। इनके विरुद्ध भारत के 15 राज्यों के मनरेगा मज़दूरों ने दिल्ली के जंतर मंतर पर 100 दिन का धरना-प्रदर्शन किया था। सरकार का कहना है कि मनरेगा योजना में भ्रष्टाचार और बिचौलियों को ख़त्म करने और इसमें पारदर्शिता लाने के लिए ये फ़ैसले किए गए हैं। एन.एम.एम.एस. द्वारा मज़दूरों की हाज़िरी एक ऐप द्वारा लगाई जाया करेगी, जिसमें मज़दूरों को यह ऐप अपने फ़ोन पर चलाकर हर रोज़ एक हाज़िरी पत्र और दो

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

फ़ोटो काम करते हुए की इस ऐप पर अपलोड करनी पड़ेंगी, जो मज़दूर यह नहीं कर सकेगा, उसे उस दिन का भुगतान नहीं किया जाएगा। ए.बी.पी.एस. द्वारा भारतीय सरकार मनरेगा मज़दूरों को, काम के बदले मिलने वाले वेतन को आधार कार्ड से जोड़ना चाहती है। वैसे तो पहले भी आधार कार्ड वाला तरीक़ा चल रहा है, लेकिन अब मज़दूरों को अपने रोज़गार कार्ड (मनरेगा मज़दूरों को पंचायत द्वारा दिया जाता एक प्रकार का हाज़िरी कार्ड) को भी आधार और बैंक खाते से जोड़ना पड़ेगा। लेकिन भारत सरकार की कारगुजारी को देखें तो पता चलता है कि यह सब सरकार की चालबाज़ी है। क्योंकि अभी तक भारत के 55 फ़ीसदी मज़दूरों के पास आधार कार्ड से जुड़े खाते ही नहीं है। अगर ए.बी.पी.एस. की बात करें तो आँकड़े और भी नीचे आ जाएँगे।

एन.एम.एम.एस. को देखा जाए तो यह मज़दूरों पर बेवजह बोझ डाला जा रहा है और इस बोझ से सरकार मज़दूरों से उनके वेतन छीनना चाहती है, साफ़ देखा जा सकता है कि यह कितना बेशर्मी भरा क़दम है। अगर आधार को भुगतान के लिए इस्तेमाल करने की बात को समझें तो सबसे पहले तो सर्वोच्च अदालत के 2015 के एक फ़ैसले के मुताबिक़ आधार को सामाजिक भलाई की योजनाओं का लाभ लेने के लिए लाज़िमी नहीं किया जा सकता, लेकिन भाजपा की भारत सरकार सर्वोच्च अदालत के फ़ैसले को अनदेखा करके यह फ़ैसला कर रही है। दूसरा बहुत बार मज़दूरों को बहुत सारी सामाजिक भलाई की योजनाओं के लाभ इसलिए नहीं मिलते, क्योंकि जब वे कोई योजना का लाभ लेने के लिए जाते हैं, तो वहाँ जब उनका आधार कार्ड जाँचने के लिए मज़दूरों के हाथों की उँगलियों के निशान लिए जाते हैं तो बायोमेट्रिक मशीन उनके हाथों के निशान नहीं उठाती, क्योंकि सख़्त मेहनत के कारण उनके हाथों की लकीरें मिट जाती हैं।

अब हमें सरकार के इस दावे की पड़ताल करनी चाहिए कि मोदी सरकार इस योजना से भ्रष्टाचार ख़त्म करके इसे पारदर्शी बनाना चाहती है? इसके लिए हमें यह देखने की ज़रूरत है कि यह योजना शुरू ही क्यों की गई थी। सरकार के मुताबिक़ इसका मक़सद गाँव की आबादी को रोज़गार देकर उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने में मदद करना है। लेकिन यह सच्चाई नहीं है। कृषि और उद्योग, और गाँव और शहर का लगातार बढ़ता अंतर बहुत सारी जनता को शहरों की ओर प्रवास के लिए मजबूर करता है। पैदावारी शक्तियों के विकास के कारण कृषि में मशीनरी आने से श्रम शक्ति की ज़रूरत कम होती गई। गाँव में बेरोज़गार हुई यह मेहनतकश आबादी रोज़गार की तलाश में शहरों की ओर प्रवास करती है। शहरों की ओर मेहनतकश आबादी का यह प्रवास तेज़ होने के कारण शहरों में पूँजीपतियों और मज़दूर वर्ग के वर्ग संघर्ष और तीखे होते हैं, जिससे सामाजिक तनाव की स्थिति पैदा हो सकती है। ऐसी स्थिति से ये सरकारें लगातार डरती रहती हैं। इस सामाजिक तनाव और तेज़ी से हो रहे वर्गीय ध्रुवीकरण को कम करने के लिए मनरेगा योजना लाई गई, ताकि गाँव की बेरोज़गार आबादी को बहुत कम वेतनों पर गाँव में ही रोका जा सके और गाँवों से शहरों की ओर प्रवास की रफ़्तार कम की जा सके। लेकिन सरकारें जनता को मिल रहीं तरह-तरह की सुविधाओं से हाथ खींच रही हैं। इसी के तहत मनरेगा योजना को भी खत्म करनी की कोशिश जारी है । सरकार इन बदलावों के ज़रिए मनरेगा योजना को मेहनतकश लोगों के लिए जटिल तकनीकी काम बनाकर मज़दूरों को योजना से दूर करना चाहती है, ताकि इस ज़िम्मेदारी से भारत सरकार अपना पल्ला छुड़ा सके। क्योंकि अगर सरकार इस योजना को भ्रष्टाचार से मुक्त करना चाहती होती, तो सबसे पहले सरकार साल 2021 के अगस्त महीने में सामने आए 935 करोड़ के घोटाले पर कोई कार्रवाई करती, लेकिन अभी तक 2 साल बीतने के बावजूद कोई कार्रवाई सामने नहीं आई है।

इसके अलावा गाँवों के सरपंच, पंचायत सदस्य मनरेगा मज़दूरों के ख़ून-पसीने के पैसे खाते हैं। सरपंच कई बार अपने परिवार के सदस्यों की नक़ली हाज़िरी लगवाते हैं, दूसरा कई बार मरे हुए लोगों के नाम पर नक़ली हाज़िरियाँ लगवाई जाती हैं, काल्पनिक व्यक्तियों को भुगतान किए जाते हैं, महँगे दामों पर सामान ख़रीदे जाते हैं। इन कमियों को दूर करने के लिए सरकार ने कोई क़दम नहीं उठाए हैं।

सरकार की नीयत की बात करें तो इस साल मोदी सरकार ने मनरेगा का बजट 33 फ़ीसदी घटाकर केवल 60,000 करोड़ ही रखा है। जबकि आज जितने मनरेगा मज़दूर हैं, उनके हिसाब से कम से कम 2.72 लाख करोड़ राशि की ज़रूरत है। इस योजना में वेतन (मतलब रोज़ाना दिहाड़ी) समाज में चलती मज़दूरी दर से हमेशा ही कम होते हैं और वेतनों की दर में बढ़ोतरी बहुत धीरे-धीरे हुई है, जो कि महँगाई से हमेशा पीछे ही रही है।

वेतन की दरों की बात करें, तो 2008-09 में दिहाड़ी का वेतन 84 रुपए था। साल 2009-10 में यह 90 रुपए, 2010-11 में 100 रुपए, 2011-12 में 117 रुपए, 2019-20 में 178 रुपए, 2020-21 में 213 रुपए थी और आज भी भारत स्तर की औसत 250 रुपए से कम है। ज़्यादातर राज्यों की हालत यह है कि मनरेगा वेतन राज्यों के न्यूनतम वेतनों से भी कम हैं। इस योजना में सरकारें वादा तो 100 दिन रोज़गार देने का करती हैं, लेकिन कभी भी सरकारें मज़दूरों को 100 दिन का रोज़गार नहीं दे पाईं। आज ज़रूरत है कि इस योजना का दायरा बढ़ाया जाए, 100 दिन के काम में और बढ़ोतरी की जाए, शहरी क्षेत्रों के लिए भी एक मनरेगा जैसी योजना शुरू की जाए। यह सब सरकारें ख़ुद से नहीं करेंगी, बल्कि मेहनतकश जनता के एकजुट संघर्ष का दबाव ही सरकारों से जनता की माँगें मनवा सकता है। इसलिए आज मेहनतकश लोगों को इकट्ठा होकर अपने अधिकारों के लिए मिलकर काम करने की ज़रूरत है।

– रतन

एक कैंटीन मज़दूर से बातचीत

आज की इस लुटेरी व्यवस्था में चीज़ों की चमक-धमक के पीछे मनुष्य की मेहनत कैसे नज़रअंदाज हो जाती है और कैसे गायब हो जाती है, इसकी एक मिसाल पिछले दिनों देखने को मिली, जब एक कैंटीन मज़दूर से बातचीत हुई। अक्सर हम कॉलजों, होस्टलों की कैंटीनों पर कैंटीनी गपशप की बातें तो सुनते रहे हैं, लेकिन इन कैंटीनों पर काम करने वाले लोगों की ज़िंदगी कितनी खराब और उदासीन होती है, इसके बारे में चर्चा नहीं होती।

पंजाब यूनिवर्सिटी चंडीगढ़ के एक होस्टल की कैंटीन में काम करने वाले राजू नाम के 19 साल के नौजवान से कुछ दिन पहले बातचीत हुई। राजू उत्तर प्रदेश का रहने वाला है, और पिछले चार सालों से पंजाब में आकर काम कर रहा है। घर के हालात ठीक ना होने की वजह से 16 साल की उम्र में पढ़ाई बीच में ही छोड़कर लुधियाणा में आ गया था। लुधियाणा में राजू ने करीब तीन साल एक बड़े कारख़ाने में काम किया। अब पिछले दो महीनों से वो किसी दोस्त के कहने पर पंजाब यूनिवर्सिटी चंडीगढ़ की कैंटीन में काम करने लग गया है।

राजू ने बताया कि यहाँ तो काम के हालात पहले से भी खराब हैं। नाश्ता तैयार करने के लिए उन्हें सुबह 5 बजे उठना पड़ता है और ठेकेदार उन्हें सुबह की चाय तक नहीं पीने देता, जब तक वह सुबह का नाश्ता नहीं तैयार करते। पहली चाय 7 बजे के बाद पीने को मिलती है। सुबह का काम निपटाकर उन्हें 10.30 बजे आराम करने को मिलता है। लेकिन 12 बजे फिर से उन्हें काम पर लगना पड़ता है। इसी तरह ढाई-तीन घंटे लगातार काम करने के बाद उन्हें 2.30 बजे के करीब छुट्टी मिलती है और 4 बजे फिर से शाम और रात के काम की तैयारी में लग जाते हैं, जो देर रात तक चलता है। उन्हें रोज़ रात के 12-12.30 बजे तक काम करना पड़ता है। मतलब सुबह से आधी रात तक काम चलता रहता है और बीच में कहने को जो आराम मिलता है, उसमें भी अभी आँख लगी ही होती है कि दोबारा उठने का समय हो जाता है। हफ़्ते के सातों दिन उन्हें इसी तरह काम करना पड़ता है। इतनी मेहनत और काम करने के बाद भी उन्हें ठेकेदार मुश्किल से महीने में 9000 रुपए वेतन देता है।

उल्लेखनीय है कि चंडीगढ़ में एक अकुशल दिहाड़ी मज़दूर का न्यूनतम वेतन करीब 10,800 रुपए है। वैसे तो यह क़ानूनी तौर पर भी बहुत कम है, लेकिन यहाँ तो सरेआम ग़ैर-क़ानूनी ढंग से इन कैंटीन के मज़दूरों का हक़ मारा जाता है।

पहले-पहले तो राजू मेरे पूछे गए सवालों का ही जबाव दे रहा था, इसके बाद राजू ने ग़ुस्से में आकर ख़ुद ही बोलना शुरू कर दिया और अपनी क़मीज़ उठाकर अपना शरीर दिखाने लगा और कहने लगा "देखो कैसे हड्डियाँ दिख रही हैं, क्या हाल हो गया है। मेरे साथ ऐसा पहले कभी नहीं हुआ। दो महीने में ही जैसे किसी ने 8-10 किलो वज़न निकाल लिया हो। ठेकेदार इतना काम करवाने के बावजूद दो टाइम का खाना ही देता है – एक सुबह और एक रात को सारा काम निपटा लेने के बाद। एक दिन मैंने ब्रेड-पकौड़ा खा लिया तो गाली देने लगा कि यह छात्रों के लिए है, तुमने क्यों खाया?"

हम दोनों के पास एक छोटा लड़का और खड़ा था, जो कैंटीन में 2-3 सालों से काम कर रहा था। उसकी तरफ़ इशारा करते हुए राजू ने कहा, "चाहे इससे पूछ लीजिए ठेकेदार कुछ भी ज़्यादा नहीं खाने देता। यह जब छोटा था तो पहले-पहले ठेकेदार इसे दूसरों से ज़्यादा खाने को देता था कि इसकी बढ़ने-फूलने की उम्र है। मगर साल-डेढ़ साल के बाद इसे भी ज़्यादा खाना देना बंद कर दिया कि अब यह बड़ा हो गया है, इसे भी बाक़ी मज़दूरों जितना खाना मिलेगा।"

यानी इन ठेकेदारों, मालिकों की

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

तथाकथित उदारता भी इनके लिए मुनाफ़े का रास्ता तैयार करने का जरिया होती है, कि कैसे ठेकेदार ने उस लड़के को तब तक ज़्यादा खाने को दिया, जब तक वह आगे जाकर अच्छा मज़दूर तैयार हो सके।

इसी होस्टल का एक विद्यार्थी भी यह बता रहा था कि अब जो नया ठेकेदार आया है, वो पुराने ठेकेदार से "बेहतर" है, उसका बोलने का ढंग पुराने ठेकेदार से अच्छा है। मगर केवल गल्ले पर बैठे ठेकेदार से बात होने के कारण उन्हें पता नहीं चलता कि कैसे गल्ले के पीछे बनी रसोई में यही "अच्छा" ठेकेदार अपने मज़दूरों के साथ कितनी सख़्ती से पेश आता है, कि कैसे तब उस अच्छे ठेकेदार की अच्छाई गाली में बदल जाती है।

आज होटलों, मैस आदि में काम करता मज़दूरों का यह तबक़ा सबसे ज़्यादा शोषित तबक़ों में से एक है। भारत में अनौपचारिक क्षेत्र के तहत आने वाले ऐसे मज़दूरों की संख्या करोड़ों में है, जिन्हें रोज़गार के साथ जुड़े किसी क़िस्म के क़ानूनी हक़ हासिल नहीं। मज़दूरों का यह तबक़ा संगठित ना होने के कारण इस शोषण के ख़िलाफ़ कोई संगठित विरोध नहीं कर पाता।

– मानव

मोदी सरकार द्वारा न्यूज़क्लिक की जुबानबंदी की घटिया कोशिश

बीती 3 अक्टूबर को भारत सरकार के ग्रह मंत्रालय के निर्देशों के तहत दिल्ली पुलिस द्वारा ख़बरों के वेब पोर्टल 'न्यूज़क्लिक' से जुड़े पत्रकारों, काम करने वाले स्टाफ़, संपादक आदि के घरों पर छापे मारे गए। न्यूज़क्लिक का दिल्ली स्थित दफ़्तर सील कर दिया गया और उसके संपादक परबीर और प्रशासनिक अफ़सर अमित को हिरासत में ले लिया गया। न्यूज़क्लिक के दफ़्तर के मुलाजिमों के लैपटॉप, फ़ोन, अन्य डिजिटल डेटा, डेटा की हर प्रकार की नक़लें, नक़दी रसीदें आदि जब्त कर लिए गए हैं। इस पूरी प्रक्रिया के दौरान न्यूज़क्लिक के मुताबिक़ ना तो दिल्ली पुलिस द्वारा उन्हें एफ़.आई.आर. की कोई नक़ल दी गई, ना ही दिल्ली पुलिस ने इन सारे छापों के समय क़ानूनी प्रक्रिया का ही कोई पालन किया। सूत्रों के मुताबिक़ न्यूज़क्लिक पर जो छापे मारे गए हैं और संपादक और प्रशासनिक अफ़सर को गिरफ़्तार किया गया है, यह कोई छोटी-मोटी धारा लगाकर नहीं, बल्कि पुलिस द्वारा इन पर ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियाँ रोकने का क़ानून (यू.ए.पी.ए.) थोपा गया है। इस काले क़ानून का इस्तेमाल मोदी सरकार द्वारा 2014 से भारत की सत्ता पर काबिज़ होने के बाद लगातार बढ़ाया गया है, जिसके ज़रिए ना केवल कश्मीर, उत्तर पूर्व में जनता के सही संघर्षों को ही दबाया जा रहा है, बल्कि मोदी सरकार द्वारा हर प्रकार की जनपक्षधर और सरकार विरोधी आवाज़ को भी दबाने की कोशिश की जा रही है।

न्यूज़क्लिक पर ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियाँ रोकने का क़ानून लगाने के पीछे भाजपा सरकार द्वारा इन पर चीनी प्रचार करने और चीन से फ़ंडिंग हासिल करने के दोष लगाए गए हैं। इसका आधार पिछले समय में संयुक्त राज्य अमेरिका (आगे केवल अमेरिका) से छपने वाले अख़बार 'न्यूयॉर्क टाइम्स' में छपा एक लेख बना है, जिसमें बिना तथ्यों के यह बात कही गई है कि न्यूज़क्लिक एक अमेरिकी पूँजीपति के ज़रिए चीन से फ़ंडिंग हासिल करता है और उनके हक़ में प्रचार-प्रसार करता है। अमेरिकी नागरिकों के एक हिस्से द्वारा पिछले दिनों 'न्यूयॉर्क टाइम्स' के मुख्य दफ़्तर के सामने इस ग़लत प्रचार के ख़िलाफ़ रोष प्रदर्शन भी किया गया है।

न्यूज़क्लिक के मामले में यह पहली बार नहीं हुआ कि मोदी सरकार द्वारा इसे निशाना बनाया गया हो, बल्कि लगातार ही 2021 से इसके मुख्यालय, मुलाज़िमों, पत्रकारों, इससे जुड़े बुद्धिजीवियों, संपादकों आदि पर छापे पड़ते रहे हैं और जाँच-पड़ताल होती रही है। ये छापे ज़्यादातर एनफ़ोर्समेंट डायरेक्टरेट, आय कर विभाग और दिल्ली पुलिस की आर्थिक अपराध शाखा द्वारा किए गए हैं। एनफ़ोर्समेंट डायरेक्टरेट और आय कर विभाग तो मोदी सरकार द्वारा लगातार अपनी विरोधी आवाज़ों को शांत करने के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है। न्यूज़क्लिक के मुताबिक़ पिछले 2 सालों में लगातार छापे डालने के बावजूद भाजपा सरकार की ये एजेंसियाँ एक भी ऐसा केस न्यूज़क्लिक संस्था के ख़िलाफ़ पेश नहीं कर सकी, जिसमें कोई दोष साबित हुआ हो। साफ़ है कि यह भाजपा सरकार द्वारा राजनीतिक दुश्मनी निकालने के लिए ही किया जा रहा है।

आख़िर भाजपा का न्यूज़क्लिक से विरोध क्या है?

संस्था न्यूज़क्लिक पिछले लंबे समय से भाजपा सरकार की आर्थिक और राजनीतिक नीतियों का लगातार विरोध करती आई है। तीन कृषि क़ानूनों के और नागरिकता संशोधन क़ानून के विरुद्ध चले जनसंघर्षों में इन्होंने खुलकर जनता का पक्ष लिया और भाजपा सरकार की नीतियों का विरोध किया। इसके अलावा कश्मीर में धारा 370 और 35ए हटवाने का भी न्यूज़क्लिक द्वारा विरोध किया गया (वैसे ये कश्मीर और अन्य राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार की वकालत नहीं करते)। न्यूज़क्लिक द्वारा भाजपा के मुख्य संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आगे आर.एस.एस.) के सांप्रदायिक-फ़ाशीवादी मंसूबों का भी समय-समय पर पर्दाफ़ाश किया जाता रहा है। भाजपा समय-समय पर अपने हुक्मरानों, इजारेदार पूँजीपतियों की जेबें भरने के लिए जो जनविरोधी नीतियाँ लाती रहती है जैसे मज़दूर विरोधी श्रम क़ानून, सरकारी ख़रीद ख़त्म करने के लिए लाया गया क़ानून, वन रखरखाव क़ानून आदि का भी न्यूज़क्लिक में छपे लेखों में विरोध किया जाता रहा है। न्यूज़क्लिक द्वारा भाजपा सरकार के इजारेदार पूँजीपतियों ख़ासकर अंबानी, अदाणी से याराना संबंधी तथ्य भी लगातार पेश किए जाते रहे हैं, अदाणी द्वारा किए घोटाले पर भी इस संस्था द्वारा काफ़ी ध्यान दिया गया था। इसके अलावा यहाँ कई लेख भारत की मेहनतकश आबादी के भयंकर जीवन, ग़रीबी, बेरोज़गारी, कुपोषण, अमीर-ग़रीब में बढ़ते अंतर, इनके जनवादी अधिकारों को कुचलने के संबंध में छपते रहते हैं, जो मोदी सरकार की नीतियों पर सवाल खड़े करते हैं। इन सब कारणों के चलते ही न्यूज़क्लिक भाजपा की आँखों में खटकता है।

भाजपा और इसके हुक्मरानों की मीडिया संबंधी नीति

आर.एस.एस.-भाजपा और इसके हुक्मरानों की मीडिया संबंधी दोहरी नीति रही है। पहली यह है कि मीडिया संस्थानों के बड़े हिस्से को सीधी फ़ंडिंग या ख़रीदने के ज़रिए उन्हें अपने ज़हरीले प्रचार-प्रसार के लिए इस्तेमाल किया जाए। मीडिया के इस हिस्से को भाजपा द्वारा पूर्ण तौर पर आज़ादी है, यह मीडिया लगातार भाजपा, भारत के पूँजीपतियों के गुणगान में व्यस्त रहता है और आर.एस.एस. के सांप्रदायिक फ़ाशीवादी प्रोजेक्ट – हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान के तहत मुसलमानों, ईसाइयों, जनपक्षधर संगठनों, कार्यकर्ताओं आदि के विरुद्ध रोज़ ज़हर उगलता है और जनता के एक बड़े हिस्से में मुसलमानों, ईसाइयों, जनपक्षधर बुद्धिजीवियों आदि के ख़िलाफ़ अपमान और नफ़रत भरता है। आर.एस.एस. की पागल भीड़ जो अक्सर मुसलमानों की मस्जिदों, उनके घरों आदि को आग लगाने जैसे कामों को अंजाम देती है, को तैयार करने, खाद-पानी देने में ऐसे मीडिया की बड़ी भूमिका है।

मीडिया का दूसरा हिस्सा, जो भाजपा विरोधी सुर रखता है, को भाजपा और उसके हुक्मरान या तो पूँजी की ताक़त से ख़रीदने की कोशिश करते हैं और या अपने इनफ़ोर्समेंट डायरेक्टरेट जैसी एजेंसियों द्वारा उनकी जुबानबंदी को अंजाम देते हैं। ऐसे मीडिया का गला घोटने के लिए आर.एस.एस.-भाजपा लगातार लगी रहती है। जैसे-जैसे 2024 के चुनाव नज़दीक आते जा रहे हैं, वैसे-वैसे आर.एस.एस.-भाजपा के लिए यह और भी ज़रूरी होता जा रहा है कि अपने विरोध में चल रहे किसी भी प्रकार के प्रचार-प्रसार को रोका जाए, ताकि एक बार फिर से भारत की राज्यसत्ता पर काबिज़ होने के उनके आसार बढ़ जाएँ।

पूँजीवाद आज़ादी, बराबरी, भाईचारे के नारे के ज़रिए सामंती व्यवस्था समेत सामंती रोक-टोक का विरोध करते हुए राज्यसत्ता पर काबिज़ होता है। सामंती व्यवस्था की जगह लेने की प्रक्रिया में इसे आम जनता को अपने साथ लेना पड़ता है और इसके एवज में जनता को कुछ बुनियादी जनवादी अधिकार देने पड़ते हैं, जिसमें अभिव्यक्ति की आज़ादी भी शामिल होती है। पूँजीपति सत्ता को जनता और अपने हर प्रकार के विरोधियों के ये जनवादी अधिकार लगातार खटकते रहते हैं और किसी ना किसी बहाने इन अधिकारों को कुचलने के लिए पूँजीवादी हुक्मरान हमेशा कोशिशों में रहते हैं। जनता लगातार अपने संघर्षों द्वारा ही अपने जीते हुए अधिकारों को बनाए रखने में सफल होती है।

न्यूज़क्लिक घटना ना तो कोई इकलौती घटना है, ना ही भाजपा का महज पागलपन है। यह रोगग्रस्त पूँजीपति व्यवस्था, भारत में जिसकी सेवा का काम इस समय भाजपा के पास है, का ही लाज़मी नतीजा है। जनता के जनवादी अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष को लाज़मी ही, इस हमले की असल जड़, इस लुटेरी व्यवस्था के खात्मे की दिशा में संघर्ष से जोड़ना होगा। देश-भर में सैकड़ों ही मज़दूर, मुलाजिमों और विद्यार्थी, नौजवान संगठन, जनवादी अधिकारों की रक्षा के लिए बने संगठन, विभिन्न नागरिक मंचों आदि द्वारा न्यूज़क्लिक पर मोदी सरकार द्वारा उठाए गए क़दमों का विरोध किया गया है और जनता के जनवादी अधिकारों के लिए आवाज़ बुलंद की गई है। यह एक बेहद स्वागतयोग्य क़दम है, यह मोदी सरकार को संदेश है कि वह यहाँ पर मनमर्जी चलाने के लिए आज़ाद नहीं है।

– नवजोत नवी

गाज़ा से एक चिट्ठी

– ग़सान कानाफ़ानी

प्यारे मुस्तफ़ा,

मुझे तुम्हारी चिट्ठी मिली। इसके मुताबिक़ तुमने मुझे अपने पास सैकरामैंटो बुलाने संबंधी ज़रूरी व्यवस्था कर ली है। ताज़ा समाचार यह है कि मुझे कैलिफ़ोर्निया यूनिवर्सिटी के सिविल इंजीनियरिंग विभाग के लिए चुन लिया गया है। मेरे दोस्त, इन अहसानों के लिए मुझे लाजिमी ही तुम्हारा शुक्रिया अदा करना चाहिए। पर तुम्हें यह सुनकर बड़ा अजीब लगेगा, और इसमें कोई शक भी नहीं। बिना किसी हिचकचाहट कहना हो, तो मैं कहूँगा कि मुझे इससे पहले सब बातें इतनी स्पष्ट कभी नहीं दिखीं। मेरे दोस्त मैंने अपना इरादा बदल लिया है। मैं तुम्हारे पीछे उस धरती पर नहीं आऊँगा, जहाँ तुम्हारे बताए मुताबिक़ हरियाली है, पानी है और ख़ूबसूरत चेहरे हैं। मैं जहाँ हूँ, वह जगह कभी भी नहीं छोड़ूँगा।

मुस्तफ़ा, मैं सच में परेशान हूँ कि आगे से हमारे रास्ते एक नहीं रहेंगे, मुझे अच्छी तरह याद है कि सदा तुम मुझे साथ चलने के वादे के बारे में याद दिलाया करते थे, और हम इकट्ठा चिल्लाते हुए कहते थे – "हम ख़ुशहाल हो जाएँगे!" पर अब कुछ नहीं किया जा सकता, मेरे दोस्त। हाँ, मुझे याद है जब मैं कैरो हवाई अड्डे के हाल में तुम्हारा हाथ पकड़े खड़ा था और उस पागल मोटर की तरफ़ देख रहा था। उस वक़्त उसके कानफाड़ू आवाज़ कर रहे पंखे के साथ सब कुछ समय में घूम रहा था, और तुम मेरे सामने खड़े थे, तुम्हारा गोल चेहरा शांत था।

गाज़ा के शाज़िया कुआटर में बड़ा होने से लेकर अब तक तुम्हारा चेहरा, कुछ हल्की झुर्रियों को छोड़कर ज़्यादा नहीं बदला। हम इकट्ठा जवान हुए, एक-दूसरे को पूरी तरह समझते हुए और हमने अंत तक साथ चलने का वादा किया था, पर. . .

जहाज़ विदा होने में अभी पंद्रह मिनट बाक़ी हैं। इस तरह निराश ना हो। सुनो! तुम अगले साल कुवैत जाओगे, और इतना-सा वेतन जुटा लोगे, जिससे तुम्हारी जड़ें गाज़ा से उखाड़ कर कैलिफ़ोर्निया में लगाई जा सकें। हमने इकट्ठा शुरुआत की थी और हमें लाज़िमी ही चलते रहना चाहिए।

उस समय मैं तुम्हारे तेज़ हिल रहे होंठों को देख रहा था। तुम हमेशा ऐसे ही बोला करते थे। कॉमे और विश्राम चिन्हों के बिना, पर मैंने अस्पष्ट-सा महसूस किया कि तुम उड़ान को लेकर पूरी तरह ख़ुश नहीं थे। तुम इसके कोई तीन कारण नहीं बता सकते। मैं भी इस जुदाई से निराश था, पर उस समय यही विचार मन में थे: क्यूँ ना गाज़ा छोड़कर चलते बने? हम क्यूँ नहीं जा सकते? हालाँकि तुम्हारी स्थिति सुधरना शुरू हो गई। कुवैत के शिक्षा विभाग ने तुम्हें चुन लिया, जबकि मुझे मना कर दिया। दुखों के साथ, जहाँ कि मैं रहता हूँ, तुमने मुझे कुछ पैसे भेजे थे। तुम्हारा कहना था कि मैं इसे क़र्ज़ समझूँ क्योंकि तुम्हें डर था कि मैं इससे अपमानित महसूस करूँगा। तुम मेरे हालात अच्छी तरह जानते हो; तुम जानते हो कि उनरवा स्कूल से मिलने वाला मामूली-सा वेतन मेरी माँ, मेरी विधवा भाभी और उसके चार बच्चों की मदद के लिए सदा नाकाफ़ी था।

ध्यान से सुनो। हर रोज़ मुझे पत्र लिखना, हर घंटे, हर पल! जहाज़ उड़ने वाला है। अलविदा! या अगली मुलाक़ात तक!

तुम्हारे ठंडे होंठों ने मेरे गालों को छूआ, तुम मुँह फेरकर जहाज़ की तरफ़ चले गए, और जब तुमने मुड़कर देखा तो मेरी आँखों में आँसू देख सकते थे।

बाद में कुवैत के शिक्षा विभाग ने मुझे बुला लिया। वहाँ मेरी ज़िंदगी किस तरह गुज़री यह दोहराने की कोई ज़रूरत नहीं। मैं सदा तुम्हें इस बारे में सब कुछ लिखता रहा हूँ। वहाँ ज़िंदगी ठहरी-सी और नीरस थी, जैसे मैं कोई छोटा-सा सीप हूँ, जो किसी ज़ालिम अकेलेपन में खोया हुआ धीरे-धीरे रात से पहले वाली फुसफुसाहट से संघर्ष कर रहा हो, भद्दी व्यस्तता में घिरा हुआ, समय के साथ रस्मी लड़ाई लड़ता हुआ। वहाँ सब कुछ गरम और नम-सा था, मेरी सारी ज़िंदगी फिसलन भरी रही, केवल महीने के किसी तरह ख़त्म होने की उत्सुकता रहती।

उस साल के मध्य में यहूदियों ने केंद्रीय ज़िला साबा पर बमबारी की और गाज़ा पर भी हमला किया, हमारे गाज़ा पर, बमों और आग बरसाती तोपों से। वह घटना मेरी ज़िंदगी के प्रवाह को कुछ बदल सकती थी, पर वहाँ मेरे लिए ज़्यादा देने वाला कुछ भी नहीं था; मैं गाज़ा को अपने पीछे छोड़कर कैलिफ़ोर्निया जाने वाला था, जहाँ कि मैं अपने आप, जो कि बहुत कुछ झेल चुका था, के लिए जीता। मुझे गाज़ा और इसके निवासियों से नफ़रत हो गई। उस कटे हुए नगर की हर चीज़ मुझे बीमार व्यक्ति की बनाई हुई खराब पेंटिंग की याद दिलाती है। हाँ, मैं अपनी माँ, विधवा भाभी और उसके बच्चों को हर महीने मामूली राशि गुज़ारे कि लिए ज़रूर भेजता, पर अपने आप को इस अंतिम बंधन से भी आज़ाद कर लेता। सब्ज़ कैलिफ़ोर्निया मुझे हार की उस गंध से कहीं दूर कर देता, जिसने कि सात सालों से मेरी नाक में दम किया हुआ था। हमदर्दी की वह कड़ी जिसने कि मुझे अपने भाई के बच्चों, उनकी और मेरी माँ के साथ जोड़ा हुआ था, मेरी इस उड़ान को त्रासदी साबित करने में सदा नाकाम रहती। यह मुझे जितना नीचे गिरा चुकी थी, उससे और ज़्यादा नहीं गिरा सकती थी। मैं ज़रूर चला जाता!

मुस्तफ़ा, तुम इन भावनाओं से वाकिफ़ होगे, क्योंकि तुम इनका अच्छा तजुर्बा रखते हो। गाज़ा से हमारी यह ग़लत परिभाषित कड़ी क्या थी, जिसने कि हमारे संघर्ष करने के हौसले को धीमा कर दिया? हमने समस्या का हल इस तरह क्यूँ ना किया कि इसे सही अर्थ दे सकते? हम इस हार के ज़ख्मों सहित पीछे छोड़कर उस सुरक्षित भविष्य की ओर क्यूँ नहीं बढ़ सके? जो कि हमें गहरा आश्वासन देता। क्यूँ? हम अच्छी तरह नहीं जानते थे।

जब मैं जून की छुट्टियों में वापस लौटा और अपना सामान इकट्ठा किया, एक मीठी विदाई की इच्छा के साथ, उन छोटी चीज़ों की तरफ़ शुरुआत के साथ जो कि जीवन को अच्छा, बेहतर अर्थ देती हैं। मैंने गाज़ा को पहले जैसा ही देखा, किसी घोंघे की जुगाली हुई सिप्पी की अंदरूनी परत की तरह बंद, जिसे कि लहरों ने नम, रेतले किनारे पर किसी कसाईखाने के पास फेंक दिया हो। यह गाज़ा किसी भयंकर सपने से ज़्यादा डरावना और वीरान था, वही तंग गलियाँ और बढ़ी हुई बाल्कनियाँ वाला यह गाज़ा! पर वे कौन-से अस्पष्ट कारण हैं, जो किसी व्यक्ति को उसके परिवार, उसके घर, उसकी यादों की तरफ़ धकेलते हैं? जैसे बसंत पहाड़ी बकरियों के झुंड को खींचती है। मैं नहीं जानता। मैं केवल यही जानता हूँ कि उस सुबह मैं अपनी माँ को मिलने हमारे घर गया था। वहाँ मुझे मेरी विधवा भाभी मिली, जिसने रोते हुए अर्ज़ की कि उस शाम मैं उसकी जख्मी और अस्पताल में दाख़िल लड़की नादिया को मिल आऊँ। क्या तुम नादिया को जानते हो? मेरी ख़ूबसूरत तेरह साल की भतीजी?

शाम को मैंने पौंड सेब ख़रीदे और नादिया को देखने अस्पताल की तरफ़ चल पड़ा। मैं जानता था कि मेरी माँ और भाभी मुझसे लाज़िमी ही कुछ छुपा रही हैं, कुछ ऐसा जो उनकी जुबाने बयान करने से असमर्थ हैं, कुछ ऐसा जो मैं जान नहीं था सकता। मैं नादिया को एक आदत के कारण प्यार करता था, वही आदत जिस कारण मुझे हार और उजाड़े के बीच पल रही पूरी पीढ़ी से प्यार है, जिसे ख़ुशहाल ज़िंदगी केवल एक सामाजिक भटकाव जैसी लगती है।

उस वक़्त क्या हुआ? मैं नहीं जानता। मैं एक शांत सफ़ेद कमरे में दाख़िल हुआ। बीमार बच्चों में एक पवित्रता-सी आ जाती है, और यह और भी बढ़ जाती है, अगर बच्चा किसी दरिंदगी या दर्दनाक जख्मों के कारण बीमार हुआ हो। नादिया अपने बिस्तर पर लेटी हुई थी, उसकी पीठ को बड़े तकिए का सहारा दिया गया था, जिस पर उसके बाल मोटी खाल की तरह फैले हुए थे। उसकी आँखों में एक गहरी चुप्पी थी और काली पुतलियों की गहराई तले आँसू चमक रहे थे। उसका चेहरा शांत और स्थिर था, पर किसी यातनाएँ झेल रहे पैगंबर का प्रभाव दे रहा था। नादिया अभी बच्ची थी, पर देखने में काफ़ी समझदार मालूम हो रही थी, काफ़ी समझदार और बड़ी उम्र की।

"नादिया!"

मुझे कोई ध्यान नहीं कि यह मैं या मेरे पीछे खड़े किसी और ने कहा, पर उसने मुझसे नज़र मिलाई और मैं ऐसे पिघल गया, जैसे चीनी का टुकड़ा गर्म चाय के कप में घुल जाता है।

उसकी हलकी मुस्कान के साथ मुझे यह आवाज़ सुनाई दी: "चाचा! तुम अभी कुवैत से लौटे हो?"

उसकी आवाज़ गले में अटक गई, और उसने ख़ुद को हाथों के सहारे ऊपर उठाया और अपनी गर्दन मेरी ओर झुकाई। मैंने उसकी पीठ थपथपाई और पास में ही बैठ गया।

"नादिया मैं तुम्हारे लिए कुवैत से बहुत-से तोहफ़े लेकर आया हूँ। पहले पूरी तरह सेहतमंद हो जाओ और अस्पताल से छुट्टी ले लो। फिर तुम मेरे घर आना, सब खिलौने ले लेना। मैं तुम्हारे लिए वही लाल पाजामे लेकर आया हूँ, जो तुमने मँगवाए थे।"

यह तनाव के पलों से पैदा हुआ एक झूठ था, पर मैंने महसूस किया, जैसे पहली बार सच बोल रहा हूँ। नादिया ऐसे काँप गई, जैसे करंट लगा हो और भयंकर ख़ामोशी से अपना सर झुका लिया। मैंने अपने हाथों पर उसके आँसू महसूस किए।

"कुछ तो बोलो नादिया! क्या तुम्हें लाल पाजामे नहीं चाहिए?" उसने दुबारा आँखें उठाईं और लगा जैसे कुछ बोलने लगी हो, पर फिर रुक गई, अपने दाँत कसे और मैंने उसकी आवाज़ फिर सुनी, जैसे कहीं दूर से आ रही हो।

"चाचा!"

उसने अपना हाथ निकाला, उँगलियों से सफ़ेद चादर हटा दी और अपनी टाँग की

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

ओर इशारा किया, जो जाँघ से कटी हुई थी।

दोस्त मैं कभी नादिया की कटी हुई टाँग को भुला नहीं सकता। कभी नहीं! ना कभी उस दर्द को, जिसने उसका चेहरा बिगाड़ दिया था और सदा के लिए उसका हिस्सा बन गया था। मैं अस्पताल से बाहर निकल आया, और मेरे हाथों में पकड़े सेब बेमतलब हो गए थे, जो मैं नादिया के लिए लेकर आया था। चमकते सूरज ने गलियों को गाढ़े रंग से भर दिया।

और ग़ाज़ा नया-नया लग रहा था, मुस्तफ़ा! हम दोनों ने इसे कभी ऐसे नहीं देखा। शाजिया कुआर्टर, जहाँ हम रहते थे, उसके आगे लगे पत्थरों के ढेर का कोई तो मतलब था, और इसे परिभाषित करने के अलावा उनका कोई और अर्थ प्रतीत नहीं होता। यह गाज़ा, जहाँ हम रहते थे और जिसके अच्छे लोगों के साथ हमने सात साल हार का संताप झेला, अब नया और बदला हुआ था। पता नहीं क्यों पर मुझे यह एक नई शुरुआत लगी। मैंने कल्पना की कि जिस मुख्य गली से मैं अपने घर वापस जा रहा था, वह सफ़र की ओर जाने वाले लंबे रस्ते का शुरुआती बिंदू था। इस गाज़ा के अंदर सब कुछ उदासी से धड़क रहा था, जो केवल रोने तक सीमित नहीं था। यह एक आह्वान था: इससे भी बढ़कर यह कटी हुई टाँग के ठीक होने जैसा था!

मैं गाज़ा की गलियों में से गुज़रा, जो चकाचौंध करने वाली रौशनी से भरी पड़ी थीं। मुझे बताया गया कि नादिया ने घर पर गिरे बम के कारण लगी आग से अपने छोटे भाई-बहनों को बचाने के लिए ख़ुद को उन पर गिराने की वजह से अपनी टाँग गँवा दी थी। नादिया वहाँ दौड़कर अपनी टाँग और जान को बचा सकती थी, पर उसने ऐसा नहीं किया।

"क्यूँ?"

ना मेरे दोस्त, मैं सैकरामैंटो नहीं आऊँगा, और मुझे कोई पछतावा नहीं। ना मैं वह ख़त्म करूँगा, जो हमने बचपन में शुरू किया था। यह अस्पष्ट भावना कि तुमने गाज़ा को छोड़ दिया, यह छोटी-सी भावना लाजिमी ही तुमहारे अंदर एक बड़ा पहाड़ बन जाएगी। यह लाजिमी फैलेगी, तुम इसे ज़रूर अपना लेना, ताकि हार के इस बदसूरत मलवे में से ख़ुद को ढूँढ़ सको।

मैं तुम्हारे पास नहीं आऊँगा। पर तुम हमारे पास लौट आओ! नादिया की जाँघ से कटी टाँग से यह सीखने के लिए कि ज़िंदगी क्या है और अस्तित्व के क्या अर्थ हैं।

लौट आओ दोस्त! हम सभी तुम्हारा इंतज़ार कर रहे हैं। (1956)

फ़िलस्तीन पर दो कविताएँ

एक दिवालिए की रिपोर्ट

समी अल कासिम

फ़िलस्तीनी कवि

अगर मुझे अपनी रोटी छोड़नी पड़े
अगर मुझे अपनी कमीज़ और अपना बिछौना बेचना पड़े
अगर मुझे पत्थर तोड़ने का काम करना पड़े
या कुली का
या मेहतर का
अगर मुझे तुम्हारा गोदाम साफ़ करना पड़े
या गोबर से खाना ढूँढ़ना पड़े
या भूखे रहना पड़े
और ख़ामोश
इंसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूँगा
आख़िर तक मैं लड़ूँगा

जाओ मेरी ज़मीन का
आख़िरी टुकड़ा भी चुरा लो
जेल की कोठरी में
मेरी जवानी झोंक दो
मेरी विरासत लूट लो
मेरी किताबें जला दो
मेरी थाली में अपने कुत्तों को खिलाओ
जाओ मेरे गाँव की छतों पर
अपने आतंक के जाल फैला दो
इंसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूँगा
और आख़िर तक मैं लड़ूँगा

अगर तुम मेरी आँखों में
सारी मोमबत्तियाँ पिघला दो
अगर तुम मेरे होंठों के
हर बोसे को जमा दो
अगर तुम मेरे माहौल को
गालियों से भर दो
या मेरे दुखों को दबा दो
मेरे साथ जालसाजी करो
मेरे बच्चों के चेहरे से हँसी उड़ा दो
और मेरी आँखों में अपमान की पीड़ा भर दो
इंसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूँगा
और आख़िर तक मैं लड़ूँगा
मैं लड़ूँगा
इंसानियत के दुश्मन

बंदरगाहों पर सिगनल उठा दिए गए हैं
वातावरण में संकेत ही संकेत हैं
मैं उन्हें हर जगह देख रहा हूँ
क्षितिज पर नौकाओं के पाल नज़र आ रहे हैं
वे आ रहे हैं
विरोध करते हुए
यूलिसिस की नौकाएँ लौट रही हैं
खोए हुए लोगों के समुद्र से
सूर्योदय हो रहा है
आदमी आगे बढ़ रहा है
और इसके लिए
मैं क़सम खाता हूँ
मैं समझौता नहीं करूँगा
और आख़िर तक मैं लड़ूँगा
मैं लड़ूँगा

अनुवाद: रामकृष्ण पांडेय

ओ गाज़ा के शरारती बच्चो

ख़ालिद जुमा

फ़िलस्तीनी कवि

ओ गाजा के शरारती बच्चो
तुम वही हो ना जो मेरी खिड़की के नीचे
शोरगुल से मेरी नाक में दम किए रहते थे
तुम वही हो ना जो दौड़-भाग और कोलाहल से
हर सुबह को सराबोर कर देते थे
तुम वही हो ना
जिन्होंने मेरी बालकनी का गुलदान तोड़ा था
और उसका अकेला फूल चुरा लिया था
वापस आ जाओ
और जितना मर्जी शोर मचाओ
और सारे गुलदान तोड़ डालो
सारे फूल चुरा लो,
वापस आओ,
बस वापस आ जाओ...

मेहनतकश लोगों के बच्चों के प्रति सरकार की बेरुख़ी

मैं पटियाला ज़िले के एक सरकारी स्कूल में अध्यापिका हूँ। सरकार की तरफ़ से शिक्षा के सार्वजनिक क्षेत्र से कैसे हाथ पीछे खींचा जा रहा है। निजी क्षेत्र की इस क्षेत्र में दख़लअंदाज़ी ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ाने का काम किया जा रहा है। मैं ख़ुद इस चीज़ की गवाह हूँ कि सरकारी स्कूल कैसे सुविधाएँ ना होने के कारण बर्बाद हो रहे हैं और बच्चों के पास बुनियादी सुविधाओं की भी कमी है। ये सब मेहनतकश लोगों के बच्चों के प्रति सरकार की बेरुख़ी ज़ाहिर करता है, क्योंकि ग़रीब मेहनतकश लोगों के बच्चे ही आज मुख्य तौर पर इन स्कूलों में पढ़ते है।

सरकारों की बच्चों के प्रति ऐसी ही बेरुख़ी की मिसाल मैंने हाल ही में देखी। सरकार की तरफ़ से स्कूल के बच्चों में कुछ समय पहले मुक़ाबले करवाए गए, जिसमें लोक नृत्य, पोस्टर बनाना, रचनात्मक लेखन आदि जैसे मुक़ाबले शामिल थे। इन मुक़ाबलों में बच्चों को कोई भी सामग्री सरकार की तरफ़ से उपलब्ध नहीं करवाई गई। ना तो पोस्टर बनाने के लिए पोस्टर दिए गए और ना ही रंग। इसी तरह रचनात्मक लेखन और मुक़ाबले के लिए काग़ज़ जैसी बुनियादी चीज़ भी बच्चों को नहीं दी गई। बल्कि ज़्यादातर मुक़ाबलों के लिए कहा गया कि बच्चे ख़ुद घर से ये सामान लेकर आएँ। कई बच्चे चित्रकारी आदि में अच्छे होने के बावजूद इन मुक़ाबलों में इस्तेमाल किए जाने वाले सामान के ना होने के कारण भाग नहीं ले सके और उनमें छिपी प्रतिभा ने शायद ऐसे ही साधनों की कमी के कारण दम तोड़ देना है। उस समय मुझे इस व्यवस्था की नीचता पर ग़ुस्सा आया, क्योंकि ये राजनीतिक लीडर जो अपनी इश्तिहारबाज़ी पर करोड़ों रुपए पानी की तरह बहा देते है, वे कुछ पैसे इन मुक़ाबलों में बच्चों के लिए उपलब्ध नहीं करवा सके। ना जाने कितने ही मेहनतकश लोगों के संभावी लेखक, चित्रकार, अदाकार आदि इस व्यवस्था की इसी तरह भेंट चढ़ते रहते हैं।

– बेअंत

अदारा 'प्रतिबद्ध' द्वारा पुस्तक लोकार्पण समारोह और विचार-चर्चा का आयोजन

पिछले दिनों पंजाबी भवन, लुधियाणा में अदारा 'प्रतिबद्ध' द्वारा 'क़ौमी सवाल और मार्क्सवाद' (पंजाबी) पुस्तक (और इसका अंग्रेज़ी अनुवाद – National Question and Marxism) का लोकार्पण किया गया। यह किताब मार्क्सवादी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के संपादक सुखविंदर द्वारा लिखी गई है। आज यहाँ करवाए गए पुस्तक लोकार्पण समारोह के अवसर पर गंभीर विचार-चर्चा भी हुई।

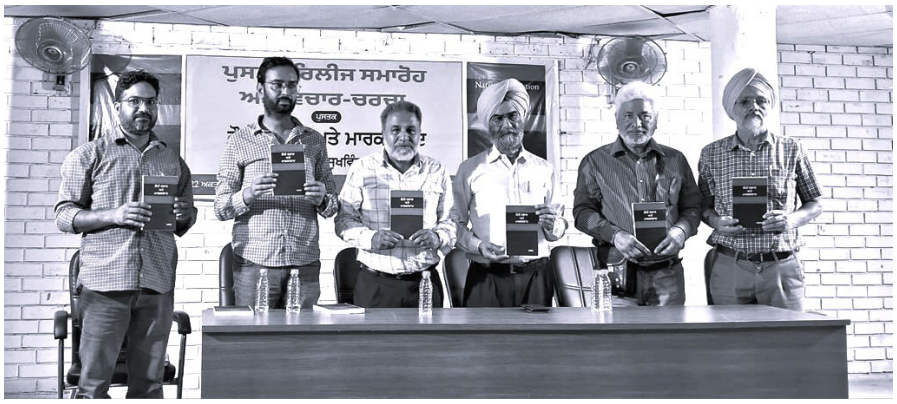

कार्यक्रम की शुरुआत इज़राइली हमले में मारे गई फ़िलिस्तीनी लोगों के लिए दो मिनट का मौन रखकर हुई। फ़िलिस्तीनी राष्ट्र के संघर्ष के पक्ष में और इज़राइली और अमेरिकी साम्राज्यवादी हुक्मरानों के विरोध में आवाज़ बुलंद की गई। इसके बाद साथी नवजोत रायकोट ने पंजाबी क्रांतिकारी गीत 'बागी' पेश किया।

विचार-चर्चा के दौरान सबसे पहले सुखविंदर ने इस किताब में पेश सामग्री के बारे में जानकारी दी। उन्होंने बताया कि इस किताब में प्रतिबद्ध के अलग-अलग अंकों में छपे चार लेख शामिल किए गए हैं – क़ौमी सवाल और मार्क्सवाद (National Question And Marxism), भारत विच क़ौमी मसला (National Question in India), पंजाब दा क़ौमी मसला (National Question of Punjab) और 'भारत विच क़ौमी मसले उपर वख-वख समझां – इक आलोचनात्मक समीख्या (Various Understandings Of The National Question In India – A Critical Review)। उन्होंने कहा कि यह किताब राष्ट्रीय प्रश्न पर सही समझ बनाने की दिशा में एक कोशिश है, क्योंकि इसके बिना भारत में मज़दूर क्रांति संभव नहीं है। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय प्रश्न को सिर्फ़ मार्क्सवादी विचारधारा की रोशनी में ही सही ढंग से समझा जा सकता है। मार्क्सवाद ही है जो अन्य प्रश्नों की तरह ही राष्ट्रीय प्रश्न का सही हल पेश करता है। मार्क्सवाद द्वारा दिखाई राह पर चलते हुए समाजवादी सोवियत यूनियन ने राष्ट्रीय प्रश्न को कामयाबी से हल किया था। उन्होंने कहा कि भारत में राष्ट्रीय प्रश्न हल नहीं हुआ है और बुनियादी प्रश्नों में से एक है। यहाँ सिर्फ़ कश्मीर और उत्तर-पूर्व की राष्ट्रीयताएँ ही राष्ट्रीय उत्पीड़न का शिकार नहीं हैं, बल्कि मुख्य भूमि भारत में मौजूद राष्ट्रीयताएँ भी राष्ट्रीय उत्पीड़न का शिकार हैं। यहाँ किसी भी राष्ट्रीयता को आत्मनिर्णय का अधिकार हासिल नहीं है। उन्होंने कहा कि मुख्य भूमि भारत या समूचे भारत में ही राष्ट्रीय प्रश्न की मौजूदगी से इनकार करना मार्क्सवादी समझ नहीं है। उन्होंने कहा कि मज़दूर वर्ग को राष्ट्रीयताओं के जनवादी अधिकारों के पक्ष में खड़े होना चाहिए। पंजाब के राष्ट्रीय प्रश्न पर बात करते हुए उन्होंने कहा कि पंजाबी राष्ट्रीयता को अनेकों टुकड़ों में बाँटा गया है। इसका एकीकरण होना चाहिए। चंडीगढ़ भी पंजाब में शामिल किया जाना चाहिए। इसकी नदियों के पानी की लूट बंद होनी चाहिए, रिपोरियन क़ानून लागू होना चाहिए। पंजाबी और अन्य सभी राष्ट्रीयताओं के लोगों को उनके भाषाई अधिकार मिलने चाहिए।

अध्यक्ष मंडल में शामिल डॉ. जोगा सिंह, प्रो. अजायब टिवाणा, डॉ. जगजीत चीमा और डॉ. सुखदेव ने भी विचार-चर्चा में हिस्सा लेते हुए विचार पेश किए। सभी ने कहा कि राष्ट्रीय उत्पीड़न का ख़ात्मा होना चाहिए। वक्ताओं ने कहा कि यह किताब राष्ट्रीय प्रश्न को समझने में काफ़ी मदद करती है और ज़रूर पढ़ी जानी चाहिए। एडवोकेट राजीव लोहटबद्धी और मास्टर दविंदर ने भी विचार पेश किए। मंच संचालन लखविंदर ने किया।

ट्रेड यूनियन नेता लखविंदर पर दमन की साज़िश को जनदबाव ने किया नाकाम

लुधियाणा के फ़ोकल प्वाइंट के फेज़ 5 में स्थित मार्शल मशीन्स लिमिटेड कंपनी के मज़दूरों के वेतन, हाज़िरी, ई.पी.एफ़., बोनस, छुट्टियों, ई.एस.आई., ग्रैच्युटी आदि से संबंधित अधिकार मालिकों द्वारा बड़े स्तर पर छीने गए हैं। इसके ख़िलाफ़ कारख़ाना मज़दूर यूनियन की अगवाई में मज़दूर संगठित होकर संघर्ष कर रहे हैं, जिसकी बदौलत अनेकों अधिकार हासिल करने में कामयाबी मिली है। मज़दूरों ने 'मार्शल मशीन्स मज़दूर यूनियन, पंजाब' नाम की कंपनी के मज़दूरों की यूनियन भी बनाई है और जिसकी रजिस्ट्रेशन भी करवाई गई है। इसके बाद मालिक बौखलाए हुए हैं और दमन द्वारा संघर्ष को कुचलने की साज़िश रच रहे हैं। मज़दूर संघर्ष को कुचलने के लिए कंपनी मालिक-मैनेजमेंट की ओर से पुलिस द्वारा और अन्य घटिया तरीक़ों से यूनियन नेताओं-कार्यकर्ताओं-सदस्यों को डराने-धमकाने, दमन का शिकार बनाने की कोशिशें की जा रही हैं। कारख़ाना मज़दूर यूनियन के प्रधान और मार्शल मशीन्स मज़दूर यूनियन के मुख्य सलाहकार लखविंदर के ख़िलाफ़ मार्शल मशीन्स लिमिटेड के मालिक-मैनेजमेंट द्वारा की गई डराने-धमकाने की मामूली और झूठी शिकायत के आधार पर लुधियाणा पुलिस द्वारा सी.आई.ए. पुलिस जाँच शुरू की गई थी। सी.आई.ए. पुलिस जाँच क़त्ल, अगवा, आतंकवाद, तस्करी जैसे गंभीर मामलों में की जाती है, जिसमें हिरासत में ग़ैर-क़ानूनी तौर पर यातनाएँ दी जाती हैं। पूँजीपति-पुलिस गठजोड़ द्वारा श्रम अधिकारों के लिए संघर्ष को दमन द्वारा कुचलने की घटिया साज़िश का मार्शल मशीन्स मज़दूर यूनियन, कारख़ाना मज़दूर यूनियन और अन्य बिरादर संगठनों ने तुरंत नोटिस लेते हुए संघर्ष का ऐलान कर दिया। लखविंदर को 13 अक्टूबर को सी.आई.ए. स्टाफ़-2 के ताजपुर रोड पर स्थित दफ़्तर पर बुलाया गया था। इस पर मार्शल मशीन्स मज़दूर यूनियन द्वारा 13 अक्टूबर को हड़ताल करने और सी.आई.ए. स्टाफ़-2 के दफ़्तर पर धरना-प्रदर्शन का ऐलान किया गया था। इसके दबाव में सी.आई.ए. स्टाफ़ ने 12 अक्टूबर की शाम को सूचना दी कि 13 अक्टूबर को लखविंदर को आने की ज़रूरत नहीं, कि शिकायत की कापी कोई भी आकर ले जाए (इससे पहले तो शिकायत की कापी नहीं दी जा रही थी)। विभिन्न मज़दूर, नौजवान, किसान, मुलाज़िम जनसंगठनों का प्रतिनिधिमंडल भी 13 अक्टूबर को पुलिस कमिश्नर दफ़्तर पहुँचा और ए.डी.सी.पी. (औद्योगिक सुरक्षा) हरकमल कौर से मिला। प्रतिनिधिमंडल ने माँग की कि ट्रेड यूनियन के नेता के ख़िलाफ़ फ़ैक्टरी मालिक द्वारा की गई झूठी शिकायत के आधार पर सी.आई.ए. पुलिस जाँच तुरंत रद्द की जाए, पुलिस को गुमराह करने वाले मालिकों के ख़िलाफ़ सख़्त से सख़्त धाराओं के तहत पर्चा दर्ज हो। भविष्य में श्रम मामलों से संबंध में सी.आई.ए. पुलिस का इस्तेमाल करके और अन्य झूठे केसों में फँसाकर तंग करना, दमन का शिकार बनाना बंद किया जाए। संगठनों ने कहा कि अगर प्रशासन द्वारा माँगें ना मानी गई, तो संघर्ष तेज़ किया जाएगा। चारों तरफ़ से पड़ रहे जन दबाव के कारण पुलिस को सी.आई.ए. पुलिस जाँच रद्द करनी पड़ी और इस मसले की जाँच ए.डी.सी.पी.-4 को सौंप दी गई। 13 अक्टूबर को हरकमल कौर, ए.डी.सी.पी. (औद्योगिक सुरक्षा) को मिले जन प्रतिनिधिमंडल में कारख़ाना मज़दूर यूनियन की ओर से लखविंदर और तिलकधारी सिंह, मार्शल मशीन्स मज़दूर यूनियन की ओर से पवन कुमार, जोगिंदर सिंह और रुपिंदर सिंह, जमहूरी अधिकार सभा की ओर से रघुबीर सिंह बेनीपाल, इंक़लाबी मज़दूर केंद्र के कन्वीनर सुरिंदर सिंह, मोल्डर स्टील वर्कर्ज़ यूनियन की ओर से जी.एस. जोहरी, पेंडू मज़दूर यूनियन मशाल के प्रधान सुखदेव सिंह भूंदड़ी, नेता छिंदरपाल सिंह, मक्खन सिंह, सूबा सिंह, भारतीय किसान यूनियन (डकौंदा-धनेर) की ओर से इंद्रजीत सिंह और सुखविंदर सिंह, जमहूरी अधिकार सभा के ज़िला प्रधान जसवंत जीरख, सर्व-सांझा क्रांतिकारी मज़दूर यूनियन के प्रधान प्रभाकर, टेक्सटाइल-हौज़री कामगार यूनियन के नेता विश्वनाथ, नौजवान भारत सभा के तरन, लोक एकता संगठन के प्रधान गल्लर चौहान शामिल थे।

पूँजीवादी चुनावों में भागीदारी के बारे में कॉमरेड लेनिन के विचार

(मार्क्सवाद की यह अहम शिक्षा है कि मज़दूर वर्ग की पार्टी को पूँजीवादी चुनावी प्रणाली को जनता में नंगा करने, समूची पूँजीवादी व्यवस्था का भांडाफोड़ करने, अपने राजनीतिक कार्यक्रम का प्रचार करने के मक़सद से पूँजीवादी चुनावों में भाग लेने का दाँव-पेंच/रणकौशल अपनाना चाहिए। इसके बावजूद भारत में अनेकों कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ग्रुप पूँजीवादी चुनावों में भागीदारी को ग़लत मानते हैं जिसके चलते कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन को बहुत नुक़सान उठाना पड़ा है। पूँजीवादी चुनावों के इस्तेमाल के बारे में हम यहाँ मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक और नेता व्लादिमीर इल्यीच लेनिन द्वारा लिखित पुस्तिका 'वामपंथी कम्युनिज़्म – एक बचकाना मर्ज' के सातवें अध्याय का एक अंश प्रकाशित कर रहे हैं। – संपादक)

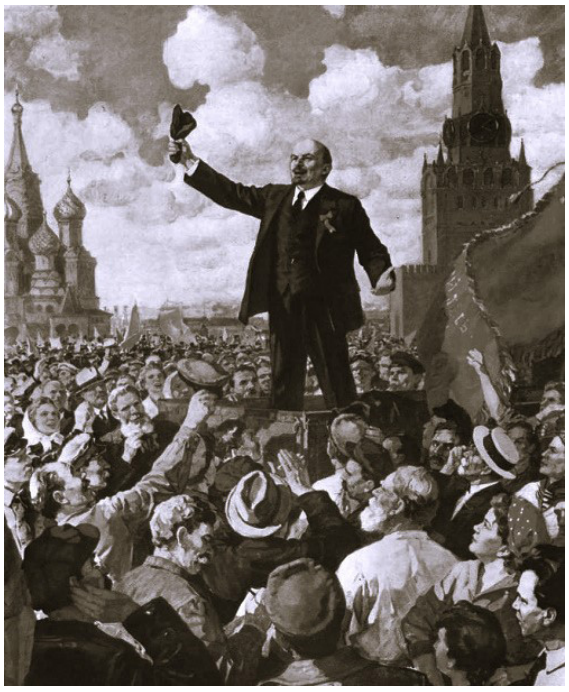

"... संसदीय पद्धति के ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से गैर-प्रासंगिक संघर्ष रूपों की ओर वापसी को हमें सारी दृढ़ता के साथ त्याग देना चाहिए।... कितने बेतुके दर्प के साथ यह बात कही गई है और यह बात साफ़ तौर पर ग़लत है। ..."

"ऐतिहासिक दृष्टि से गैर-प्रासंगिक" संसदीय पद्धति – प्रचार के ख़याल से ऐसा कहना सही है। पर हर कोई जानता है कि व्यवहार में उसे पार करना अभी बहुत दूर है। पूँजीवाद के बारे में हम दसियों बरस पहले पूर्ण अधिकार के साथ यह घोषणा कर सकते थे कि वह "ऐतिहासिक दृष्टि से गैर-प्रासंगिक" हो गया है, पर उससे बहुत लंबे समय तक और बहुत डटकर पूँजीवाद की धरती पर लड़ने की ज़रूरत नहीं मिट जाती। संसदीय पद्धति "ऐतिहासिक दृष्टि से गैर-प्रासंगिक' हो गई है – यह बात विश्व-इतिहास के दृष्टिकोण से सही है, अर्थात पूँजीवादी संसदीय पद्धति का युग समाप्त हो गया है और सर्वहारा अधिनायकत्व का युग शुरू हो गया है। यह बात निर्विवाद है। परंतु विश्व-इतिहास दशकों में हिसाब गाता है। विश्व-इतिहास के मापदंड से मापने पर दस-बीस वर्ष के देर-सबेर से कोई अंतर नहीं पड़ता, विश्व-इतिहास के दृष्टिकोण से वह इतनी छोटी अवधि होती है कि उसका मोटे तौर से भी हिसाब नहीं लगाया जा सकता। यही कारण है कि व्यावहारिक राजनीति को विश्व-इतिहास के मापदंड से मापना एक बहुत बड़ी सैद्धांतिक ग़लती है।

क्या संसदीय पद्धति "राजनीतिक दृष्टि से गैर-प्रासंगिक" हो गई है? यह एक बिल्कुल दूसरा पहलू है। अगर यह बात सच होती, तो "वामपंथियों" की स्थिति बहुत मज़बूत हो जाती। परंतु इस बात को साबित करने के लिए बहुत खोजबीन के साथ विश्लेषण करना होगा और "वामपंथी" तो यह भी नहीं जानते कि विश्लेषण किस ढंग से किया जाए। ...

... बेशक, जर्मनी में कम्युनिस्टों के लिए संसदीय पद्धति "राजनीतिक दृष्टि से गैर-प्रासंगिक" हो गई है, लेकिन असली बात यह है कि हमारे लिए जो कुछ गैर-प्रासंगिक हो गया है, हम उसे वर्ग के लिए, जनसाधारण के लिए गैर-प्रासंगिक ना समझें। यहाँ हम फिर देखते हैं कि वामपंथी' लोग तर्क करना नहीं जानते, वे वर्ग की पार्टी की तरह, जनसाधारण की पार्टी की तरह काम करना नहीं जानते। आपको जनसाधारण के स्तर पर, वर्ग के पिछड़े हुए भाग के स्तर पर नहीं पहुँच जाना चाहिए। यह बात निर्विवाद है। आपको जनता को कटु सत्य बताना चाहिए। आपको उसके पूँजीवादी-जनवादी और संसदीय पूर्वाग्रहों को पूर्वाग्रह ही कहना चाहिए। परंतु साथ ही आपको इस बात को भी बड़ी गंभीरता के साथ देखना चाहिए कि पूरे वर्ग की (केवल उसके कम्युनिस्ट हिरावल की ही नहीं) और सारे मेहनतकश जनसाधारण की (केवल आगे बढ़े हुए प्रतिनिधियों की ही नहीं) वर्ग-चेतना और तैयारी की वास्तविक हालत क्या है।

...जब तक आप पूँजीवादी संसद और दूसरी हर प्रकार की प्रतिक्रियावादी संस्थाओं को भंग नहीं कर सकते, तब तक आपके लिए उन संस्थाओं के अंदर काम करना लाज़िमी है और ठीक इस कारण से कि वहाँ अभी ऐसे मज़दूर हैं, जिन्हें पादरियों ने और देहाती जीवन की नीरसता ने धोखे में डाल रखा है। अगर आप ऐसा नहीं करते, तो केवल गाल बजानेवाले बनकर रह जाएँगे।

.. हम लोगों ने सितंबर-नवंबर, 1917 में रूस की पूँजीवादी संसद के, संविधान सभा के चुनाव में भाग लिया था। उस समय हमारी कार्यनीति सही थी या नहीं? अगर नहीं, तो साफ़-साफ़ कहिए और साबित कीजिए, क्योंकि अंतरराष्ट्रीय कम्युनिज़्म की सही कार्यनीति बनाने के लिए यह करना बहुत ही ज़रूरी है। लेकिन अगर यह कार्यनीति सही थी, तो उससे भी कुछ निष्कर्ष निकालिए। जाहिर है कि रूस की परिस्थितियों को पश्चिमी यूरोप की परिस्थितियों के बराबर नहीं रखा जा सकता। फिर भी, जहाँ तक इस विशेष प्रश्न का संबंध है कि इस अवधारणा का क्या अर्थ है कि "संसदीय पद्धति राजनीतिक दृष्टि से गैर-प्रासंगिक हो गई है", तो इस सिलसिले में हमारे अनुभव पर ध्यानपूर्वक विचार करना ज़रूरी है। कारण कि अगर ठोस अनुभव को ध्यान में नहीं रखा जाता, तो ऐसी अवधारणाएँ बड़ी आसानी से खोखले वाक्य बनकर रह जाती हैं। क्या सितंबर-नवंबर, 1917 में हम रूसी बोल्शेविकों को पश्चिम के किन्हीं भी कम्युनिस्टों से कहीं अधिक यह समझने का अधिकार नहीं था कि संसदीय पद्धति राजनीतिक दृष्टि से रूस में गैर-प्रासंगिक हो गई है? बेशक, हमें यह अधिकार था, क्योंकि यहाँ सवाल यह नहीं है कि पूँजीवादी संसद बहुत दिनों से कायम है या कम दिनों से, बल्कि यह है कि व्यापक मेहनतकश जनसाधारण सोवियत व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए और पूँजीवादी-जनवादी संसद को भंग कर देने के लिए (या उसे भंग हो जाने देने के लिए) किस हद तक (सैद्धांतिक, राजनीतिक और व्यावहारिक दृष्टि से) तैयार है। यह बात बिल्कुल निर्विवाद एवं पूर्णतः सिद्ध ऐतिहासिक सत्य है कि कई विशेष कारणों से रूस के शहरी मज़दूर और सैनिक तथा किसान, सितंबर-नवंबर, 1917 में सोवियत व्यवस्था को स्वीकार करने तथा अधिक से अधिक जनवादी-पूँजीवादी संसद को भी भंग कर देने के लिए विशेष रूप से तैयार थे। फिर भी बोल्शेविकों ने संविधान सभा का बहिष्कार नहीं किया, बल्कि सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करने के पहले और बाद में भी उसके चुनावों में भाग लिया। मैं आशा करने का साहस करता हूँ कि मैंने अपने उपरोक्त लेख में, जिसमें रूस की संविधान सभा के चुनावों के ऑकड़ों का विस्तृत विश्लेषण है, यह बात साबित कर दी है कि इन चुनावों से बहुत ही मूल्यवान (और सर्वहारा वर्ग के लिए बहुत ही लाभदायक) राजनीतिक नतीजे निकले थे।

इससे जो निष्कर्ष निकलता है, वह एकदम निर्विवाद है। यह साबित हो गया है कि सोवियत जनतंत्र की विजय के चंद हफ़्ते पहले भी और उसके बाद भी, एक पूँजीवादी-जनवादी संसद में भाग लेने से क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग को नुक़सान नहीं पहुँचता, बल्कि वास्तव में उससे पिछड़े हुए जनसाधारण के सामने यह साबित करने में मदद मिलती है कि ऐसी संसदें क्यों भंग कर देने योग्य हैं; उससे इन संसदों को सफलतापूर्वक भंग करने में मदद मिलती है। उससे पूजीवादी संसदीय पद्धति को "राजनीतिक दृष्टि से गैर-प्रासंगिक" बना देने में मदद मिलती है। ...

... एक बड़ी हड़ताल – केवल क्रांति के दौरान में या क्रांतिकारी परिस्थिति में ही नहीं, बल्कि हर समय संसदीय कार्रवाई से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। यह स्पष्टतः असंगत और ऐतिहासिक तथा राजनीतिक दृष्टि से ग़लत तर्क इस बात को बिल्कुल साफ़ कर देता है कि इन वक्तव्यों के लेखकगण, जहाँ तक ग़ैर-क़ानूनी संघर्ष के साथ क़ानूनी संघर्ष को मिलाने का महत्त्व है, ना तो आम यूरोपीय अनुभव को (1848 और 1870 की क्रांतियों के पहले के फ़्रांसीसी अनुभव; 1878-1860 के जर्मन अनुभव, इत्यादि को) ध्यान में रखते हैं, ना रूसी अनुभव को (देखिए ऊपर)। यह सवाल आमतौर से और ख़ास तौर से भी बहुत महत्व का है, क्योंकि अब सभी सभ्य एवं उन्नत देशों में वह समय बहुत तेज़ी से नज़दीक आ रहा है, जब इन दोनों प्रकार के संघर्षों को इस तरह से मिलाना क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग की पार्टी के लिए बहुत ही ज़रूरी होता जाएगा – बल्कि आंशिक रूप से अभी ही ज़रूरी हो गया है – क्योंकि सर्वहारा वर्ग तथा पूँजीपति वर्ग के बीच गृहयुद्ध की स्थिति परिपक्व होती जा रही है, उसके छिड़ने की घड़ी निकट आती जा रही है, क्योंकि जनतांत्रिक सरकारें और आम तौर से पूँजीवादी सरकारें कम्युनिस्टों का भीषण दमन करती हैं और क़ानून को हर तरह से तोड़ती हैं। (पहले अमेरिका की ही मिसाल देखिए), इत्यादि। इस बहुत महत्वपूर्ण सवाल को डचों और आम तौर से सभी वामपंथियों ने बिल्कुल नहीं समझा है।

... हम बोल्शेविकों ने घोर से घोर

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

प्रतिक्रियावादी संसदों में भाग लिया है और अनुभव ने इसे साबित कर दिया है कि उनमें भाग लेना क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग की पार्टी के लिए ना केवल लाभदायक बल्कि ज़रूरी भी था। …

… परंतु रूस में हमने एक बहुत लंबे, तकलीफ़देह और ख़ूनी अनुभव से यह सच्चाई सीखी है कि क्रांतिकारी कार्यनीति केवल क्रांतिकारी भावना के सहारे नहीं बनाई जा सकती। कार्यनीति निर्धारित करने के लिए पहले उस राज्य-विशेष की (उसके आस-पास के राज्यों की तथा संसार-भर के राज्यों की) सारी वर्ग-शक्तियों का और साथ ही क्रांतिकारी आंदोलनों के अनुभव का गंभीर तथा सर्वथा वस्तुपरक मूल्यांकन करना ज़रूरी है। संसदीय अवसरवाद पर केवल गालियों की बौछार करके, केवल संसदों में भाग लेने का विरोध करके अपना "क्रांतिकारीपन" साबित कर देना बहुत आसान है और बहुत आसान होने की वजह से ही यह एक कठिन और कठिनतम समस्या का हल नहीं हो सकता। यूरोपीय संसदों में एक सचमुच क्रांतिकारी संसदीय दल तैयार करना रूस से कहीं ज़्यादा कठिन काम है। यह बात ठीक है। पर वह इस आम सत्य की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है कि 1917 की ठोस, इतिहास की दृष्टि से बहुत ही विशेष परिस्थिति में रूस के लिए समाजवादी क्रांति शुरू कर देना आसान था, परंतु क्रांति को जारी रखना और उसे पूर्णता तक पहुँचाना रूस के लिए यूरोपीय देशों से अधिक कठिन होगा। 1918 के आरंभ में ही मैंने इस बात की ओर संकेत किया था और पिछले दो वर्ष के अनुभव ने उसे पूरी तरह साबित कर दिया है। …

…कुछ और कारणों के अलावा, इन परिस्थितियों के अभाव में पश्चिमी यूरोप के लिए समाजवादी क्रांति शुरू करना उससे कठिन है, जितना हमारे लिए था। क्रांतिकारी उद्देश्यों के लिए प्रतिक्रियावादी संसदों का उपयोग करने के कठिन काम को "फ़लाँगकर इस कठिनाई से बचने की कोशिश करना सरासर बचपना है। आप एक नया समाज बनाना चाहते हैं? फिर भी प्रतिक्रियावादी संसद में पक्के, वफ़ादार और बहादुर कम्युनिस्टों का एक अच्छा संसदीय दल बनाने की कठिनाइयों से घबराते हैं! … पश्चिमी यूरोप के पिछड़े हुए आम मज़दूर और उनसे भी ज़्यादा-छोटे किसान रूस की तुलना में पूँजीवादी-जनवादी तथा संसदीय पूर्वाग्रहों के कहीं अधिक वशीभूत है। ठीक यही कारण है कि केवल पूँजीवादी संसद जैसी संस्थाओं के अंदर से ही कम्युनिस्ट एक लंबा और अनवरत तथा कठिनाइयों के सामने कभी सिर ना झुकानेवाला संघर्ष चला सकते हैं (और उन्हें ज़रूर चलाना चाहिए), ताकि उन पूर्वाग्रहों का पर्दाफ़ाश किया जा सके, उन्हें छिन्न-भिन्न किया जा सके और उन पर विजय प्राप्त की जा सके।

हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड में "विकास" प्रोजेक्टों से हो रहा विनाश

पिछले साल अगस्त महीने में कविता, जो हिमाचल प्रदेश के सोलन ज़िले के अंजी गाँव की वासी और सरपंच है, अपने घर की छत पर खड़ी थी कि अचानक ही उसे कोई आवाज़ सुनाई दी। उसने पीछे मुड़कर देखा कि उसके घर के साथ बना चार-लेन राजमार्ग भारी बारिश के कारण नीचे की तरफ़ खिसकने लगा है और अपने साथ कई गाड़ियों को लेकर नीचे की तरफ़ बढ़ रहा है। पूरी तरह धँस चुकी यह वही सड़क थी जिसे "भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण" ने 2020 में एक हज़ार करोड़ की लागत से तैयार किया था।

हिमाचल प्रदेश की यह कोई अकेली घटना नहीं है। इस बार बरसात के महीने में हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड में बाढ़ ने जो तबाही मचाई, वह पहाड़ों के निवासी कभी नहीं भूलेंगे। इस तबाही के दौरान 112 से ज़्यादा लोगों की मौत हो गई और दर्जनों लोग लापता हुए। हिमाचल सरकार के मुताबिक़ बाढ़ ने 10,000 करोड़ से ज़्यादा का नुक़सान किया है। जोशीमठ की त्रासदी हमारे सामने है कि कैसे इस मुनाफ़ाखोर व्यवस्था ने एक पूरे क़स्बे को ख़त्म करके रख दिया। यही सब कुछ शिमला और मनाली जैसे सैर-सपाटे वाले केंद्रों में दोहराया जा रहा है। कई इलाक़ों के निवासियों की ज़िंदगी एक डर से गुज़र रही है कि पता नहीं कब पत्थर या पूरा पहाड़ खिसक जाए और जान-माल का नुक़सान कर दे। सरकार द्वारा यहाँ विकास के नाम पर बनाए जा रहे हाइडल प्रोजेक्ट और फ़ोरलेन राजमार्ग स्थानीय निवासियों के लिए विकास के चिह्न नहीं बल्कि मौत के रास्ते बन गए हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि बारिश का आना एक प्राकृतिक घटना है, जिसके बढ़ने या घटने को क़ाबू करने में मनुष्य फ़िलहाल समर्थ नहीं, पर इस बार हुई यह तबाही सीधा-सीधा खराब राजनीतिक प्रबंधन और इस मुनाफ़ाखोर हुकूमत का नतीजा है। साल 2015 की एक रिपोर्ट में यह खुलासा किया गया था कि सरकार द्वारा बनाई जा रही चार-लेन सड़कें और पुनर्निर्माण के प्रोजेक्ट किसी भी तरह सुरक्षित नहीं। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि सरकार द्वारा की जा रही पहाड़ों और जंगलों की कटाई के परिणाम भयानक होंगे, पर जैसे कि इस शोषक व्यवस्था का उद्देश्य लोगों की सेवा नहीं मुनाफ़ा कमाना है, फिर वह भले ही लोगों की ज़िंदगियों को दाँव पर लगाकर ही क्यों ना हो। इसलिए सैर-सपाटा और इसके साथ जुड़े होटल-कारोबार के फ़ायदे के लिए जंगलों-पहाड़ों की कटाई जारी रखी गई इसका ख़ामियाज़ा आम लोगों ने पिछले साल और इस साल भयानक तबाही के रूप में चुकाया। इस तबाही के कई कारण है, जिन्हें समझने की ज़रूरत है।

ग़ैर-वैज्ञानिक ढंग से की जा रही पहाड़ों की कटाई – वैज्ञानिकों के मुताबिक़ अगर पहाड़ों को वैज्ञानिक ढंग से 45 डिग्री तक के कोण तक काटा जाए, तो काफ़ी हद तक पहाड़ों या ढलानों के खिसकने के ख़तरों को कम किया जा सकता है, पर रिपोर्ट बताती है कि लागत घटाने और तुरंत काम ख़त्म करने के लिए चार-लेन सड़क बनाते वक़्त हिमाचल और उत्तराखंड के पहाड़ों की कटाई ज़्यादातर 48 से 70 डिग्री के बीच की गई है, अनेकों जगहों पर तो यह 90 डिग्री भी देखने को मिलती है। इसके अलावा वैज्ञानिकों के मुताबिक़ पहाड़ों को काटने के लिए विस्फोटक सामग्री का इस्तेमाल नहीं होना चाहिए, बल्कि ड्रिलिंग और कटर का प्रयोग होना चाहिए। पर यहाँ विस्फोटक सामग्री के इस्तेमाल के कारण आसपास के पहाड़ों, यहाँ तक की लोगों के घरों में भी दरारें पड़ चुकी हैं। बरसात के दौरान पानी भरने से ये दरारें बड़ी हो जाती हैं और नुक़सान करती हैं। स्थानीय लोगों ने कई बार संबंधित अधिकारियों से मिलकर इस बारे में बात की, पर सरकारों द्वारा कोई ग़ौर नहीं किया गया।

इतना कुछ होने के बावजूद भी हिमाचल प्रदेश में चार नए चार-लेन प्रोजेक्ट, पिंजौर-बद्दी-नालागढ़, शिमला-मटोर, पठानकोट-मंडी और स्वारघाट-मंडी-मनाली में बन रहे हैं। 2023 के जुलाई महीने में ही सोलन-शिमला मार्ग भूस्सखलन के कारण 11 बार बंद किया जा चुका है।

जंगलों की अंधाधुंध और ग़ैर-ज़रूरी कटाई

चार-लेन सड़क प्रोजेक्ट हो या दूसरे निर्माण, इनके लिए की जा रही अंधाधुंध पेड़ों की कटाई ने पहाड़ी इलाक़ों में मिट्टी ढीली कर दी है, जिस कारण अक्सर ही पहाड़ी क्षेत्रों में भूस्सखलन की घटनाएँ देखने को मिलती हैं। 2019 में जब परवाणु-सोलन सड़क चौड़ी करने का प्रोजेक्ट पास हुआ और उसकी विस्तृत रिपोर्ट तैयार की गई, तो उसमें 2700 पेड़ काटने की बात कही गई। लेकिन जब काम शुरू हुआ तो उस दौरान 10,000 से ज़्यादा पेड़ों को काटा गया, जिसके बाद कैग ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि सोलन-परवाणु राजमार्ग बनाने के लिए पर्यावरण सुरक्षा प्रबंध की शर्तों को बिल्कुल भी पूरा नहीं किया गया, इसके बिना पहाड़ों पर अमीरों की अय्याशी के लिए बनाए जा रहे आलीशान होटलों, घरों और पर्यटक स्थलों को बनाने के लिए ग़ैर-ज़रूरी पहाड़ों और पेड़ों की कटाई की जा रही है। मॉर्निंग-व्यू (सवेरे का दृश्य), नाइट-व्यू (रात का दृश्य) और लाइट-व्यू (रोशनी का दृश्य) जैसी अमीरों की शोशेबाज़ी के लिए पहाड़ों की बेढंगी और बेहिसाब कटाई ने इन ख़ूबसूरत जगहों का बहुत नुक़सान किया है।

बारिश के पानी की निकासी का खराब प्रबंधन

हिमाचल-उत्तराखंड में सड़क प्रोजेक्ट तभी सफल रह सकते हैं, जब उनके साथ बारिश के पानी की निकासी के विकास की अच्छी व्यवस्था हो, पर ख़र्च घटाने और ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने के लिए सड़क निर्माण कंपनियाँ लापरवाह होकर सरकारी शह पर पानी की निकासी का कोई प्रबंध नहीं करतीं। इसलिए जब बारिश होती है, तो पानी को जहाँ रास्ता मिलता है, वहीं से रास्ता बनाते हुए नीचे की ओर बढ़ता है और बाढ़ जैसी स्थिति पैदा होती है।

राजनीतिक व्यवस्था की नाकामी

आज पहाड़ी क्षेत्रों में बारिश के कारण जो तबाही हो रही है, उसके लिए राजनीतिक व्यवस्था सीधे तौर पर ज़िम्मेवार है। सरकारें पूँजीपतियों को ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमा कर देने पर उतारू हैं। लोगों के संघर्ष के कारण जंगलों और पहाड़ों को बचाने के लिए जो क़ानून बनवाए गए थे, उन्हें ख़त्म करके राज्य सरकारों और यूनियन की भाजपा हुकूमत प्राकृतिक साधनों की बेहिसाब लूट के लिए रास्ते तैयार कर चुकी है। पर इन लुटेरी सरकारों के ये क़दम स्थानीय लोगों को मौत के मुँह में धकेल रहे है।

आज ऐसी तबाहियों से बचने के लिए लोगों को इस इंसान और प्रकृति द्रोही पूँजीवादी निजाम को ख़त्म करके एक ऐसे समाज के निर्माण की तरफ़ बढ़ना पड़ेगा, जहाँ विकास का मतलब प्रकृति की तबाही करके मुट्ठी-भर पूँजीपतियों को मुनाफ़ा देना ना हो, बल्कि आम लोगों के लिए क़ुदरत एक वरदान साबित हो।

– पुष्पिंदर

हम यहाँ लूटमार करने नहीं, बल्कि क्रांति करने आए हैं

(रूस में फ़रवरी 1917 की पूँजीवादी जनवादी क्रांति के बाद अमेरिकी पत्रकार बेस्सी बीटी जुलाई 1917 में रूस आई थीं और लगभग आठ महीने वहाँ रही थीं। इसी दौरान 7 नवंबर 1917 (रूस के पुराने कैलेंडर के अनुसार 25 अक्टूबर 1917) को मज़दूरों ने दुनिया की पहली समाजवादी क्रांति को अंजाम दिया। इस महान मज़दूर क्रांति के दिनों की आँखों देखी घटनाओं को बेस्सी बीटी ने 'दि रेड हार्ट ऑफ़ रशा' नामक पुस्तक (1919) में कलमबद्ध किया है। महान अक्टूबर क्रांति की 106वीं वर्षगाँठ पर हम यहाँ उपरोक्त पुस्तक का एक अंश प्रकाशित कर रहे हैं। – संपादक)

नेवस्की शांत था।[1] पैलेस स्कवेयर लगभग सूना पड़ा हुआ था। नेवा के साथ हरेक पुल के प्रवेश पर सैनिकों का एक झुंड आग के आसपास बैठा था। उस झुंड के बीच में एक छोटा लड़का बैठा था। और इतने सारे बड़े लोगों के बीच बैठकर संसार में कहीं के भी छोटे लड़के जो भी महसूस करते हैं, वैसा ही रोमांच महसूस कर रहा था। हरेक झुंड के कुछ ही दूर गोला-बारूद से भरी एक वैगन खड़ी थी।

उस रात की स्थिति में ऐसी कोई बात नहीं थी, जो केरेंस्की की सरकार[2] के लिए शुभ हो। वह एक रस्से पर चढ़े एक नट जैसे था – चाहे जब भी गिर सकता था। 'सारी सत्ता सोवियतों के लिए' नारा और तेज़ हो गया और हर घंटे बढ़ता ही रहा। रूसी मज़दूर जो विश्व का सबसे छोटा मज़दूर दल था, सबसे अधिक वर्ग जागरूक और कृतसंकल्प था और उसके पास बंदूक़ें थीं।

इसमें मुझे कोई संदेह नहीं था कि यह हुजूम बोल्शेविकों का था। पेत्रोग्राद गैरीसन बोल्शेविकवादी थे। मोर्चे से आने वाली हरेक ख़बर से यह पता चलता था कि खंदकों के लोग तेज़ी से बाईं ओर बढ़ते जा रहे थे। पृथ्वी और शांति की तलब तत्काल शांति के लिए आकुल थे।

करेंस्की, जो उस सच्चे लोकतांत्रिक की भाँति सभी को प्रसन्न रखने की कोशिश कर रहा था, किसी को भी ख़ुश करने में सफल नहीं रहा। उसका जनता से संपर्क टूट गया था। उस पर नीचे, ऊपर, बाहर, भीतर सभी ओर से हमले हो रहे थे और उसके पदासीन रह पाने की कुछ भी आशाएँ शेष नहीं रही थीं। जिन लोगों को उसके साथ रहना चाहिए था, वे अपनी पूरी ताक़त से गुप्त रूप से उसके पतन की सोच रहे थे। और कुछ तो इसकी योजना भी बना रहे थे। मित्र-राष्ट्रों के सैनिक मिशन के वैयक्तिक सदस्य कार्निलोव[3] को मिली घोर असफलता के बावजूद अभी भी इस पुरानी मान्यता से चिपके हुए थे कि रूस को कोई अश्वारोही (सैनिक) ही बचा सकता है और वे लुक-छिपकर मिलते थे तथा केरेंस्की को बचाने की नहीं, उसके स्थान पर किसी और तानाशाह को बिठाने के बारे में विचार-विमर्श करते थे।

पुरानी व्यवस्था की गुप्त और शैतानी ताक़तें दुर्व्यवस्था बढ़ाने के लिए जर्मन आक्रमणकारियों के साथ मिलकर साजिश रच रही थीं। इन सबसे ऊपर और दूर-दूर तक जनता की ईमानदार गुहार गूंज रही थी: "विश्व में शांति हो!" और "ज़मीनें किसानों को मिले!"

बोल्शोविकों ने शांति और ज़मीन देने का वचन दिया। उन्होंने यह भी वादा किया कि विश्व के मज़दूरों को "एकजुट हो, युद्ध और पूँजीवादी शोषण को हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म कर देना चाहिए।"

वे उस रात रूस के भविष्य के बारे में बड़े शानदार सपने देख रहे थे; बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना रहे थे और वे इस बात से भी अनजान नहीं थे कि उनके सपनों और योजनाओं का इस्तेमाल भविष्य में शेष विश्व द्वारा भी किया जाएगा। शायद आदर्श संरचना के रूप में, शायद केवल भयानक उदाहरण और त्रासद चेतावनियों के रूप में।

यह एक ऐसी घड़ी थी, जिसमें यह पक्का विश्वास किए जाने की ज़रूरत थी कि मानव अभियान आगे बढ़ रहा है, और इसकी कोई परवाह नहीं कि इस रास्ते में किस परिवार में कितनी लोगों की जानें गईं।

वापस आते हुए मैं पैलेस स्कवेयर होते हुए आई। विंटर पैलेस (शीत प्रासाद)[4] के सामने शक्तिशाली ग्रेनाइट शेफ़्ट की छाया में चार बख्तरबंद गाड़ियाँ खड़ी थीं, उनके तोपों की नलियाँ खिड़कियों की ओर थीं। उनकी पुश्तों पर चमकते हुए लाल झंडे शायद अभी-अभी बनाए गए थे और एक झंडे पर बड़े अक्षरों में लिखा था – 'सर्वहारा'। शायद, बीस मैकेनिकों और ड्राइवरों का झुंड तोपों और इंजनों की तत्काल कार्रवाई के लिए तैयार हो रहे थे। कभी-कभी कोई आदमी नट कसते-कसते सिर उठाकर इधर-उधर देख लेता था और स्थिति पर कुछ टिप्पणी करता भी जाता था। केरेंस्की के पते-ठिकाने के बारे में ही उस समय मुख्य रूप से बात हो रही थी।

पैलेस की ओर अपने रेंच से इशारा करते हुए उनमें से एक ने कहा – "अब वह यहाँ नहीं है। वह तो रातों-रात फ़िनलैंड भाग गया है।"

दूसरे ने निंदात्मक भाव से कहा, "वह फ़िनलैंड नहीं भागा है। वह सेनाएँ लेने गया है तथा हमसे लड़ने के लिए वापस आ रहा है।"

तीसरे ने कहा, "वह रेडक्रॉस की एक नर्स के वेश में मोर्चे से भाग गया है।" इतना सुनते ही उसके सब साथी हँस पड़े।

तीन बजे मैं स्मोल्नी के लिए चल पड़ी।[5] … हाल ही तक यह विशाल भवन जो एक निजी शिक्षणालय था और जहाँ पर रूसी अभिजात वर्ग की कोमल कलिकाएँ एकांत में खिलती थीं, सहसा शस्त्रागार में बदल गया था, जिसमें बंदूक़ों तथा बंदूक़धारी लोगों की गहमागहमी मची हुई थी।

बाहरी कार्यालय में हमें एक सुंदर-सा लड़का मिला और वह हमारा नाम और अनुरोध पूछकर दूसरे कमरे में चला गया और वहाँ का दरवाज़ा बंद कर दिया। हम उसे उत्सुकता से देखते रहे। उस दरवाज़े के पीछे वे लोग थे, जो पेत्रोग्राद की घेरेबंदी और उस पर क़ब्ज़े की रणनीति के बारे में दिशा-निर्देश दे रहे थे और इतनी कुशलता से इसका निर्देशन कर रहे थे कि आगे आने वाले दिनों में बोल्शेविकों के शत्रु इस पर इसरार करते थे कि उनकी समिति में जर्मन हैं, क्योंकि रूसी लोग इतने निपुण संगठन को सँभालने में हरगिज़ दक्ष नहीं थे।

जब अंदर का दरवाज़ा फिर खुला तो वही लड़का हाथ में पास लेकर फिर आया। मेरा पास स्केच-पैड से एक छोटा-सा पन्ना फाड़कर टाइप किया हुआ था, जिस पर 'पाँच' की संख्या लिखी हुई थी तथा मात्र इतना कहा गया था :

"मज़दूरों और सैनिक डिपुटियों की परिषद की सैनिक क्रांतिकारी समिति कुमारी बेस्सी बीटी को समूचे शहर में निर्बाध रूप से आने-जाने की अनुमति देती है।"

काग़ज़ की यह छोटी-सी पुर्जी कई बंद दरवाज़ों को खोलने वाली थी। इस पर समिति की नीली मुहर लगी हुई थी। और उस रात रूसी किरच की ओर से सम्मान प्राप्त करने के लिए यही मुहर आदेशात्मक थी।

सवा तीन बजे थे, जब हम महान रेड आर्क की छाया में रुके थे और अँधेरे स्क्वेयर में बड़ी सावधानी से झाँक रहे थे। कुछ क्षण निस्तब्धता छायी रही, तभी राइफ़लों की तीन गोलियों ने उस चुप्पी को तोड़ दिया। हम चुपचाप खड़े थे और बदले की गोलियों की प्रतीक्षा में थे, किंतु हमे केवल काँच के टूटने और सड़क पर उसके टुकड़े बिखर जाने की आवाज़ सुनाई दी।

अचानक एक नाविक अँधेरे से उभरकर सामने आकर खड़ा हुआ और बोला, "सब कुछ ख़त्म हो गया है, उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया है।"

हम टूटे काँच के बिखरे टुकड़ों से भरे चौक को पार करके आगे बढ़े और बैरीकेडों पर चढ़कर, जो उस दोपहर खड़े किए गए थे, जो विंटर पैलेस के रक्षकों ने वहाँ खड़े किए थे और विजयी नाविकों तथा रेड गार्ड्समैन (लाल रक्षकों) के पीछे-पीछे मटमैले लाल पत्थर के बने विशाल भवन की ओर चल दिए।

अपने नीले मुहर लगे पासों के आधार पर उन्होंने हमें बिना कुछ पूछे अंदर जाने की अनुमति दे दी। नाविकों के एक कमिसार ने हमें दीवार से लगी एक बेंच पर बैठने को कहा। नाविकों के एक झुंड ने परिषद-चैंबर की ओर सीढ़ी लगा दी और अंतरिम सरकार को गिरफ़्तार कर लिया।

… विजयी नाविकों की पुख्ता पंक्ति महल के बाहर-भीतर आ-जा रही थी। उस घड़ी ट्राफ़ियों और स्मारकों को एकत्र करने की इच्छा बड़ी प्रबल थी उनमें, किंतु महल में ऐसा कुछ दिख ही नहीं रहा था। एक नाविक अपने हाथ में कोट का एक हैंगर लिए हुए सीढ़ियों से नीचे आया और दूसरे के हाथ में सोफ़े का कुशन था। तीसरे को केवल एक मोमबत्ती ही मिली थी। कमिसार ने उन्हें दरवाज़े पर रोक लिया।

उसने हाथ से बरजते हुए कहा, "नहीं, नहीं कामरेडो, तुम्हें यहाँ से कुछ भी नहीं ले जाना चाहिए।"

उसने उन नाविकों से इस तरह समझाने के ढंग से बातचीत की, जैसे किसी बच्चे से की जाती है और बच्चों की भाँति उन्होंने अपना लूट का माल धर दिया। लेकिन एक व्यक्ति ने, जो एक सैनिक था और जिसने कंबल ले लिया था, इसका विरोध किया।

उसने कहा, "किंतु मुझे तो ठंड लग रही है।"

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

"मैं इसमें कुछ नहीं कर सकता हूँ... अगर तुम उसे ले जाओगे तो लोग कहेंगे कि हम यहाँ लूटमार करने आए हैं, जबकि हम यहाँ लूटमार करने नहीं, बल्कि क्रांति करने आए हैं।"

उसी क्षण सीढ़ियों पर खड़खड़ाहट हुई और मैंने देखा कि अंतरिम सरकार के सदस्य धीरे-धीरे नीचे आ रहे थे।

उनमें से कुछ अकड़कर और सिर ऊँचा किए चल रहे थे। कुछ मुर्झाए हुए और चिंतित लग रहे थे। उस दिन की उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा से हुई थकावट तथा क्रूज़र 'अवरोरा' की चंचल तोपों के अधीन गुज़री उस रात तथा एक के बाद दूसरे मंत्रीमंडलीय संकट के सप्ताह उनके लिए काफ़ी त्रासद साबित हुए थे।

मैं वहाँ चुपचाप बैठी थी और उनको जाते हुए देख रही थी और आश्चर्य कर रही थी कि इस रात के काम का अर्थ रूस और विश्व के भविष्य के लिए क्या होगा।

1. लेखिका ने 25 अक्टूबर 1917 को रूसी राजधानी पेत्रोग्राद (अब लेनिनग्राद) का उल्लेख किया है। नेवेस्की प्रोस्पेक्त शहर का मुख्य रास्ता है।

2. अंतरिम सरकार पूँजीवादी और ज़मींदारों की सत्ता का राजनीतिक अंग था जिसकी स्थापना फ़रवरी 1917 की क्रांति के बाद की गई थी और जिसने ज़ारशाही को उखाड़ फेंका था। सरकार का प्रमुख अलेक्ज़ेंडर करेंस्की था।

3. जनरल कार्निलोव राजतंत्रवादी था और जुलाई 1917 से कमांडर-इन-चीफ़। अगस्त में उसने क्रांति-विरोध का एक अभियान छेड़ा था, ताकि सैनिक तानाशाही स्थापित की जा सके। बाद में वह रूस में क्रांति-विरोधी आयोजकों में से एक बन बैठा।

4. भूतपूर्व शाही निवास और अंतरिम सरकार का कार्यालय आज इसे 'अर्मिताज' के नाम से जाना जाता है और यह विश्व का सबसे बड़ा कला, संस्कृति और ऐतिहासिक संग्रहालय है।

5. स्मोल्नी संस्थान अक्टूबर सशस्त्र विद्रोह का मुख्यालय था।

भ्रूण हत्या – 2030 तक 68 लाख गर्भ में क़त्ल हो जाएँगे?

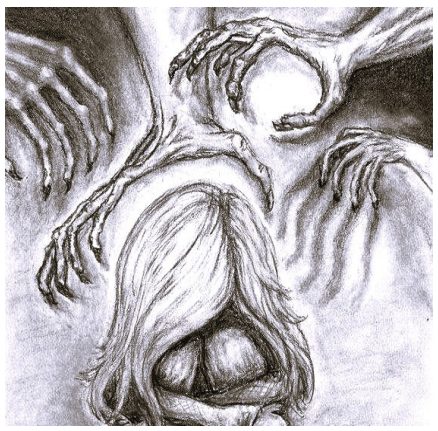

भारत के विश्व गुरु बनने के दावे करने वाले कई बार यह भूल जाते हैं कि भारत आज भी कई मध्ययुगीन औरत विरोधी मान्यताओं से ग्रस्त है। जिसमें भारत में लड़कियों की भ्रूण हत्या हमारे समाज के माथे पर घिनौना धब्बा है। औरतों के प्रति हमारे समाज की सोच रूढ़िवादी है और औरतों को दूसरे दर्जे के इंसान के रूप में साथ देखा जाता रहा है। औरतों के प्रति यह सोच जहाँ विश्व स्तर पर है वहीं भारत जैसे पिछड़े देश में हालात उससे कहीं अधिक गंभीर हैं। भारत में लड़कियों के साथ भेदभाव से हम काफ़ी हद तक वाकिफ़ हैं। जब किसी परिवार में लड़की का जन्म होता है, तो घर में मातम छा जाता है, जैसे कोई बड़ी अनहोनी हो गई हो, करीबी लोगों द्वारा भी अक्सर यह कहते-सुना जा सकता है कि "अगर लड़का होता तो बढ़िया था, बेटी तो बेगाना धन होती है।" जब किसी औरत की कोख से एक से ज़्यादा लड़कियाँ जन्म ले लें, तो उसका जीना ही दूभर हो जाता है।

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ

2020 के एक अध्ययन के मुताबिक़ अगर भारत में गर्भ में क़त्लों का सिलसिला ऐसे ही चलता रहा, तो 2017 से लेकर 2030 तक 68 लाख लड़कियों का गर्भ में ही क़त्ल हो चुका होगा, यानी इतनी लड़कियाँ यह दुनिया कभी नहीं देख सकेंगी। कितना क्रूर है हमारा समाज और ढाँचा, जो 68 लाख लड़कियों की भ्रूण हत्या कर देगा, फिर भी संवेदनहीनता की हद तक चुप्पी साधे रहेगा।

भारत सरकार के एक सर्वेक्षण के मुताबिक़ साल 2000 से लेकर 2019 तक 90 लाख लड़कियों की भ्रूण हत्या हो चुकी है। लड़कियों के गर्भ में क़त्लों का दौर तकनीक के इस्तेमाल के साथ बढ़ा है। पिछले चार दशकों से तकनीक का दुरुपयोग करके गर्भ में पल रहे भ्रूण के लिंग के बारे में पता लगाया जाता है और अगर भ्रूण लड़की का है, तो कई बार क़त्ल कर दिया जाता है। जबकि 1994 में क़ानून बनाकर भ्रूण की किसी भी तरह की जाँच को ग़ैर-क़ानूनी कर दिया गया परंतु क़ानून सिर्फ़ काग़ज़ों का श्रृंगार बनकर रह गया, कभी भी अमली रूप में लागू नहीं हुआ। पैसे के लालच में लिंग जाँच करने वाले मेडिकल प्रैक्टिशनर और डॉक्टरों पर कभी भी पूरी तरह प्रतिबंध नहीं लग सका और ना ही सरकार ऐसा चाहती है। भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय के सचिव ने एक बयान में कहा था की भारत में लगभग 22,000 ऐसे क्लीनिक हैं, जहाँ भ्रूण के लिंग की जाँच की जाती है। इसे रोकने के लिए खोखले नारों के सिवाए कुछ नहीं किया जाता।

औरतों के साथ भेदभाव की परिघटना उत्तर भारत में ज़्यादा है। जैसे राजस्थान, हरियाणा, यूपी, बिहार, दिल्ली वग़ैरा। इन राज्यों में सांस्कृतिक तौर पर पिछड़े होना भी एक कारण है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं। वैसे तो पूरे भारत में ही औरतों के प्रति व्यवहार के हालात अच्छे नहीं हैं, परंतु उत्तर भारत में मुक़ाबलतन और भी ज़्यादा बुरे हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के मुताबिक़ साल 2016 से 2021 के बीच भ्रूण हत्या विरोधी क़ानून के तहत 1581 मुक़दमे दर्ज हुए हैं। जिसमें साल 2016 में 240, साल 2017 में 312, साल 2018 में 238, साल 2019 में 262, साल 2020 में 259 और 2021 में 270 केस दर्ज हुए। इनमें बड़ी तादाद में मुक़दमें उत्तर भारत से हैं। ये वो मुक़दमे हैं जो क़ानून की दहलीज तक पहुँचे तो गिनती में आ गए। असल में तो लाखों ही ऐसे भ्रूण हत्या के मुक़दमे हैं, जो क़ानून की दहलीज पर आते ही नहीं। अकेले राजस्थान में ही पिछले 5 साल में 131 मुक़दमे भ्रूण हत्या के तहत दर्ज हुए हैं।

ऐसे मामलों में सरकार की कारगुज़ारी क्या है?

अक्सर जब गर्भ में हत्याओं की बात होती है, तो प्रश्न उठता है कि आख़िर सरकार कर क्या रही है? मोदी सरकार ने 2015 में हरियाणा के पानीपत से 'बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ' मुहिम की शुरुआत की थी, परंतु "बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ" का नारा सिर्फ़ पाखंड साबित हुआ है। यह वही भाजपा सरकार है जिसके नेता औरतों को बच्चे पैदा करने की मशीन मानते हैं और पति की सेवा करना उसका प्रमुख काम। 2015 में इस योजना की शुरुआत के लिए 644 करोड़ रुपए जारी किए गए, जिसमें से 356 करोड़ (56%) सिर्फ़ योजना की मशहूरी करने पर ही उड़ा दिए गए। बाक़ी बचे पैसे भी ढंग से ख़र्च नहीं किए गए। इस मुहिम के तहत देश-भर के 161 ज़िलों को चुना गया, जहाँ लड़कियों की जन्म दर को बढ़ाना था, परंतु इन ज़िलों में लड़कियों की जन्म दर बढ़ने की बजाय घट गई। अब इस मुहिम का मोदी सरकार ने नाम लेना भी छोड़ दिया है (शायद मोदी भी भूल गया हो कि उसने इस तरह की किसी योजना की भी शुरुआत की थी) इस मुहिम का मतलब सिर्फ़ वोट हासिल करना था। यह भाजपा सरकार ही थी कि जिसने महिला पहलवानों का शारीरिक शोषण करने वाले भाजपा के सांसद ब्रज भूषण शरण सिंह को शह दी और उस पर कोई कार्रवाई नहीं की।

तो फिर क्या भारत में ऐसे ही गर्भ में बेटियाँ मरती रहेंगी?

जब तक यह पूँजीवादी ढाँचा रहेगा तब तक भारत में लड़कियों की भ्रूण हत्या की बीमारी को ख़त्म करना नामुमकिन है। औरतों की ग़ुलामी और उनके दूसरे दर्जे की नागरिक होने की जड़ें इस पूँजीवादी व्यवस्था में मौजूद हैं। औरतों की मुक्ति का सवाल बस लोगों के विचार बदलने का सवाल नहीं, बल्कि उस व्यवस्था की जड़ें उखाड़ने का सवाल है, जिसके रास्ते से औरतों की ग़ुलामी और औरत विरोधी सब विचार पैदा होते हैं।

– कुलविंदर रोड़ी

मोदी सरकार के नए पर्यावरण क़ानून

(पन्ना 14 से आगे)

क़ानूनों में शामिल करने की कोशिश की थी। कांग्रेस पार्टी कोई पर्यावरणवादी, जनवादी, राष्ट्रीयताओं के अधिकारों की रक्षक नहीं, बल्कि ख़ुद सत्ता का आनंद पाने के लिए लोगों के सामने यह ढोंग कर रही है। पर्यावरण की बरबादी, जनजातीय और राष्ट्रों के अधिकारों पर डाके के ख़िलाफ़ असल लड़ाई लोगों को अपनी संगठित ताक़त से ही लड़नी पड़ेगी और आज भी लोग ही विभिन्न रूपों में यह लड़ रहे हैं। पर्यावरण से सबंधित काम कर रहे कार्यकर्ताओं और अन्य जनपक्षधर संगठनों ने इन नए संशोधनों की निंदा की है, साथ ही विभिन्न जनजातीय लोगों के संगठनों द्वारा भी मोदी सरकार की इस नीति के ख़िलाफ़ रोष प्रदर्शन किए गए हैं। उत्तर-पूर्व की विभिन्न राष्ट्रीताएँ कई बार आपस में भी टकरा जाती हैं। लेकिन इनका मुख्य और साझा दुश्मन भारतीय राज्यसत्ता ही है, जिसके ख़िलाफ़ इनकी लड़ाई लगातार तीखे या धीमे रूप में जारी है। मोदी सरकार की ऐसी नीतियों का ज़बरदस्त विरोध असल में पूँजीवादी ढाँचे, जो ढाँचा ही इन नीतियों का असल जन्मदाता है, के विरोध और इसके विरुद्ध विशाल जन आंदोलन खड़ा करके ही संभव है।

– नवजोत नवी

सतलुज-यमुना लिंक नहर के निर्माण का भारत सरकार का अन्यायपूर्ण फ़ैसला
पंजाब की नदियों के पानी पर पूर्ण अधिकार के पक्ष में डटकर खड़े होने की ज़रूरत है

जैसे-जैसे लोकसभा और ख़ासकर हरियाणा विधानसभा चुनाव नज़दीक आ रहे हैं, वैसे-वैसे सतलुज-यमुना लिंक नहर का मुद्दा फिर से गरमाया जा रहा है। अब सुप्रीम कोर्ट द्वारा भारत सरकार को पंजाब में सतलुज-यमुना लिंक नहर के निर्माण के लिए ज़मीन का सर्वेक्षण करने का निर्देश देने के कारण यह मुद्दा फिर से चर्चा में है। भाजपा हरियाणा चुनाव का फ़ायदा उठाने के लिए पहले भी चंडीगढ़ और नदियों के पानी का मुद्दा उठाती रही है। इस मुद्दे को इस या उस राष्ट्र/राज्य के प्रतिनिधि होने के भावनात्मक पैंतरे की जगह सभी राष्ट्रों के लिए समानता और न्याय के जनवादी सिद्धांतों के तहत हल किया जाना चाहिए। इस पैंतरे पर खड़े होकर ही मेहनतकश जनता पूँजीवादी चुनावी पार्टियों की जनता को गुमराह करने की राजनीति से ख़ुद को अलग कर सकती है।

सभी राष्ट्रों के लिए समानता और न्याय के जनवादी सिद्धांत के तहत, ना केवल सतलुज-यमुना लिंक नहर बल्कि पंजाब की सभी नदियों के पूरे मुद्दे को रिपेरियन क़ानून के तहत हल किया जाना चाहिए, जिसके तहत ग़ैर-रिपेरियन राज्यों का पंजाब की नदियों पर कोई अधिकार नहीं है और यही कारण है कि ना केवल सतलज-यमुना नहर का निर्माण अन्यायपूर्ण है, बल्कि हरियाणा, राजस्थान और दिल्ली को जाने वाला पानी भी पंजाब के साथ अन्याय है और इसे पंजाब को वापस दिया जाना चाहिए। पंजाब के दरियाई पानी के पूरे मुद्दे को और सतलुज-यमुना लिंक नहर के मुद्दे को ऐतिहासिक प्रसंग में समझा जाना चाहिए।

नदियों के पानी के अधिकार अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त रिपेरियन सिद्धांत के तहत हल किए जाते हैं। रिपेरियन सिद्धांत के अनुसार, नदियों के पानी पर उनके प्राकृतिक प्रवाह के किनारों से लगने वाले इलाक़ों के लोगों का ही अधिकार होता है। नदियों के पानी का लाभ भी उन्हीं लोगों को होगा, जिस इलाक़े के लोग उनके बाढ़ के पानी से पीड़ित रहे हों या हैं। अगर नदियों से जुड़ने वाला इलाक़ा दो या दो से अधिक देशों या राज्यों की राजकीय/प्रशासनिक इकाइयों में बँटा हो, तो वे राज्य या देश उस नदी के रिपेरियन देश/राज्य कहलाते हैं और संबंधित नदी का पानी उनके बीच बाँट लिया जाता है। इसका मतलब यह भी है कि किसी नदी के ग़ैर-रिपेरियन क्षेत्र के लोगों का उस नदी के पानी पर अधिकार नहीं होता। नदियों के पानी पर अधिकार का यह सिद्धांत एक वैज्ञानिक और जनवादी सिद्धांत है।

भारतीय क़ानून भी रिपेरियन सिद्धांत को मानता है। अलग-अलग मामलों में अदालतों के फ़ैसले रिपेरियन सिद्धांत के अनुसार होते आए हैं। गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के पानी के विवाद पर ट्रिब्यूनल ने फ़ैसला सुनाया कि राजस्थान नर्मदा का रिपेरियन राज्य नहीं है और इसलिए इस नदी के पानी पर उसका अधिकार नहीं है। कर्नाटक और तमिलनाडु कावेरी के रिपेरियन राज्य हैं। इसलिए, कावेरी नदी के पानी को लेकर भी उनके विवाद का निपटारा रिपेरियन सिद्धांत के अनुसार ही किया गया था। कृष्णा नदी के पानी को लेकर आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और महाराष्ट्र के बीच विवाद का फ़ैसला भी रिपेरियन सिद्धांत के अनुसार किया गया है। इसी तरह महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और कर्नाटक के बीच गोदावरी नदी के विवाद के संबंध में फ़ैसला लेने के लिए भी रिपेरियन सिद्धांत को ही आधार बनाया गया है। पंजाब की नदियों के पानी के मामले में भी रिपेरियन सिद्धांत को लागू किया जाना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। पंजाब के लोगों के साथ यह जाहिरा तौर पर अन्याय है।

पूर्वी पंजाब से तीन नदियाँ बहती हैं – सतलुज, रावी और ब्यास। पाकिस्तान में मौजूद पश्चिमी पंजाब इसका सह-रिपेरियन राज्य है। 1947 के बाद तीनों नदियों के पानी को लेकर भारत सरकार का पाकिस्तान सरकार के साथ विवाद सामने आया। यह झगड़ा सिंधु जल संधि होने के बाद ख़त्म हो गया, जिसके अनुसार पाकिस्तान को मुख्य रूप से सिंधु, चनाब और जेहलम के पानी का अधिकार मिल गया और सतलुज, रावी और ब्यास के पानी का अधिकार भारत को मिल गया। लेकिन पाकिस्तान के साथ पानी के बँटवारे को लेकर चले झगड़े में, भारतीय शासकों ने ग़ैर-वाज़िब ढंग से घग्गर नदी को सिंधु नदी क्षेत्र का हिस्सा बताया। इस तरह राजस्थान को पंजाब का सह-रिपेरियन राज्य घोषित किया गया और पंजाब के पानी में राजस्थान की हिस्सेदारी दिखाई गई। इस तरह, 1955 में भारत की कांग्रेस सरकार ने ग़ैर-वाज़िब ढंग से राजस्थान को पंजाब के पानी का हिस्सेदार बना दिया। असल में, उस समय पश्चिमी पंजाब के साथ अन्याय किया गया था। इस तरह, सिंधु जल संधि के बाद सतलुज, रावी और ब्यास के पानी पर अधिकार पूर्वी पंजाब का था। लेकिन यह अधिकार छीन लिया गया और पंजाब को यह पानी देने के बजाय पंजाब (हरियाणा के साथ), राजस्थान और दिल्ली में बाँटा गया।

1961 में, जब हरियाणा पंजाब का हिस्सा था, हरियाणा को 19 लाख एकड़ फ़ुट पानी दे दिया गया। 1966 में, पंजाब के पुनर्गठन क़ानून के तहत, हिमाचल प्रदेश और हरियाणा दो नए राज्य अस्तित्व में आए। 1967 में, हरियाणा ने उस समय पंजाब को मिल रहे 51 लाख एकड़ फ़ुट पानी में से 29 लाख एकड़ फ़ुट पानी की माँग की। इस तरह उन्होंने कुल 48 लाख एकड़ फ़ुट पानी पर दावा किया। पंजाब पुनर्गठन क़ानून की धारा 78, 79 और 80 के मुताबिक़, भारत सरकार ने पंजाब की नदियों, इन पर चल रहे प्रोजेक्टों और बाँधों का कंट्रोल ग़लत ढंग से अपने हाथ में ले लिया। इसी क़ानून के तहत पंजाब की राजधानी चंडीगढ़ और पंजाब यूनिवर्सिटी चंडीगढ़ को पंजाब से छीनना भी अन्याय था।

इस तरह पंजाब से पानी ही नहीं बल्कि बिजली का अधिकार भी छीन लिया गया। लेकिन हरियाणा की यमुना नदी पर बने ताजेवाला और ओखला बाँधों और प्रोजेक्टों का कंट्रोल हरियाणा के पास ही रहा। असल में, भारतीय संविधान के मुताबिक़ भी, राज्यों के पास ही नदियों के कंट्रोल का अधिकार है। इस तरह, हरियाणा को यमुना नदी पर कंट्रोल का अधिकार मिलना ग़लत नहीं था। लेकिन इसी तर्ज पर पंजाब को यह अधिकार नहीं दिया गया है, जो स्पष्ट रूप से पंजाब के साथ अन्याय था/है। हरियाणा सरकार ने यूनियन सरकार से पंजाब पुनर्गठन क़ानून के तहत उसे और पानी देने का आदेश देने की माँग की। आपातकाल के दौरान 24 मार्च 1976 को इंदिरा गांधी सरकार ने हरियाणा को कुल 35 लाख एकड़ फ़ुट पानी देने का आदेश जारी कर दिया। उस समय पंजाब को मिल रहा 51 लाख एकड़ फ़ुट पानी इस्तेमाल किया जा रहा था। पंजाब के पास बिल्कुल भी अतिरिक्त पानी नहीं था। बल्कि उसका पानी तो पहले से ही लूटा जा रहा था। लेकिन इसके बावजूद यूनियन सरकार के आदेश में पंजाब से कहा गया कि हरियाणा को हर हाल में 35 लाख एकड़ फ़ुट पानी देना ही होगा। अगर प्राकृतिक कारणों से पानी कम भी होता है, तो इसका बोझ भी पंजाब को ही उठाना होगा। इसीलिए पंजाब को सतलुज-यमुना लिंक नहर का निर्माण करने के लिए कहा गया था। हरियाणा ने अपने क्षेत्र में इस नहर को बनाने का काम शुरू कर दिया।

भारत सरकार ने जब यह आदेश जारी किया था, उस समय पंजाब में कांग्रेस की सरकार थी और मुख्यमंत्री ज्ञानी जैल सिंह था। जून 1977 में अकाली दल की सरकार बनी। प्रकाश सिंह बादल मुख्यमंत्री बना। उसने सतलज-यमुना लिंक का निर्माण युद्ध स्तर पर शुरू कर दिया। अकाली सरकार ने 20 फ़रवरी 1978 को धारा 17 के तहत ज़मीन ज़ब्त करने की नोटीफ़िकेशन जारी की। इस धारा के तहत नोटिफ़िकेशन तब जारी की जाती है, जब सरकार को आपात स्थिति में ज़मीन की ज़रूरत हो। 4 जुलाई 1978 को एक पत्र जारी करके हरियाणा सरकार से 3 करोड़ रुपए की माँग भी की गई। इससे पता चलता है कि जो शिरोमणि अकाली दल (बादल), इस समय पंजाब के पानी का रखवाला बन रहा है, वो उस समय पंजाब का पानी लुटाने के लिए कितना बेताब था। पंजाब में इस फ़ैसले का विरोध होना स्वाभाविक था। इसलिए इसका कड़ा विरोध हुआ। अकाली सरकार ने दबाव में आकर सुप्रीम कोर्ट में समझौते के ख़िलाफ़ केस दर्ज कर दिया।

1980 में जब पंजाब में कांग्रेस की सरकार बनी तो इंदिरा गांधी ने 31 दिसंबर 1981 को तीनों राज्यों के कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों दरबारा सिंह (पंजाब), भजन लाल (हरियाणा), शिवचरण माथुर (राजस्थान) को बुलाकर समझौता करवाया। इसके साथ 24 मार्च 1976 के आदेश को एक समझौते में बदल दिया गया। पंजाब को दो साल के अंदर सतलुज-यमुना लिंक नहर का निर्माण करने को कहा गया। 12 फ़रवरी 1982 को इंदिरा गांधी ने दरबारा सिंह से सुप्रीम कोर्ट से केस भी वापस करवा लिया। अप्रैल 1982 में, इंदिरा गांधी ने कपूरी से फावड़े से सतलुज-यमुना लिंक नहर के निर्माण का उद्घाटन किया, और इस मौक़े पर उसे फावड़ा पकड़ाने वाला कैप्टन अमरिंदर सिंह था, जो बाद में पंजाब के पानी के अधिकारों के हक़ में बोलने का नाटक करता रहा है।

(अगले पन्ने पर जारी)

(पिछले पन्ने से आगे)

इंदिरा गांधी की हत्या के बाद 1985 में राजीव-लोंगोवाल समझौता हुआ, जिसमें कहा गया कि पंजाब, हरियाणा और राजस्थान को उतना ही पानी मिलता रहेगा, जितना 1 जुलाई 1985 को मिल रहा था। सतलुज-यमुना लिंक नहर को 15 अगस्त 1986 तक पूरा करने का फ़ैसला किया गया। 1990 में खालिस्तानी आतंकियों ने सतलज-यमुना लिंक नहर का निर्माण कर रहे चीफ़ इंजीनियर, सहायक इंजीनियर और कई मज़दूरों की हत्या कर दी। जिसके बाद इस नहर का निर्माण कार्य बंद हो गया।

2004 में, कैप्टन अमरिंदर सिंह की सरकार ने विधानसभा में एक क़ानून पारित किया, जिसमें सभी जल समझौतों को रद्द कर दिया गया। यह क़ानून अभी भी राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए लटका हुआ है। लेकिन यह भी कैप्टन अमरिंदर सिंह की कांग्रेस सरकार का चुनावी स्टंट ही था। यह सिर्फ़ पानी के मुद्दे पर चुनावी राजनीति में अकाली दल से आगे निकलने की चाल थी। नवंबर 2016 में विधानसभा में एक प्रस्ताव पेश किया गया कि रिपेरियन सिद्धांत के मुताबिक़, पंजाब के पानी पर केवल पंजाब का अधिकार है और हरियाणा, दिल्ली और राजस्थान को मिल रहे पानी के लिए भुगतान करना होगा। एस.वाई.एल. नहर के लिए ज़ब्त की गई ज़मीनों को वापस कर दिया गया और खोदी गई नहर को भर दिया गया। इस तरह, ये दोनों मुख्य सत्ताधारी पार्टियाँ इस मुद्दे पर नाटक करती रही हैं और समय-समय पर अपने रुख़ बदलती रही हैं।

नई बनी आम आदमी पार्टी भी इन्हीं के नक्शे-क़दमों पर चल रही है। हरियाणा में आप पार्टी के नेता हरियाणा के पक्ष में बोलते हैं और पंजाब के नेता पंजाब के पक्ष में। केजरीवाल भी कभी पंजाब के ख़िलाफ़ बोलता है, तो कभी गोल-मोल बातें करता है, लेकिन एक बार भी उसने डटकर पंजाब के अधिकारों की बात नहीं की। अब विधानसभा में पंजाब सरकार सतलुज-यमुना लिंक नहर का यह कहकर विरोध कर रही है कि पंजाब के पास अतिरिक्त पानी नहीं है। लेकिन सवाल यह है कि अगर पंजाब के पास अतिरिक्त पानी होता, तो क्या वह इसे बनाने के लिए सहमत होती? पंजाब की नदियों का जो पानी पहले से नाजायज़ तौर पर राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली को जा रहा है, उसे लेकर आम आदमी पार्टी पूरी तरह से चुप है, बल्कि वह तो राजस्थान को जाने वाली नहरों को पक्का कर रही है, ताकि राजस्थान द्वारा लूटे जा रहे पानी की एक बूंद भी पंजाब की धरती में समा न सके।

इस पूरी ऐतिहासिक चर्चा से स्पष्ट है कि ना केवल सतलुज-यमुना लिंक नहर ग़लत है, बल्कि पंजाब के दरियाई पानी का पूरा बँटवारा ही अन्यायपूर्ण है और सारे पानी का अधिकार पंजाब को मिलना चाहिए। संविधान के अनुसार, नदियों के पानी का मामला राज्य का मामला है, इसलिए इसमें भारत सरकार की दख़लअंदाज़ी भी ग़ैर-संवैधानिक है। पंजाब समेत सभी राष्ट्रों के मेहनतकश लोगों को सभी राष्ट्रों के लिए समानता और न्याय के हक़ में अपनी आवाज़ उठानी चाहिए और राज्यों के अधिकारों पर यूनियन सरकार द्वारा किए जा रहे हमले का भी विरोध करना चाहिए। इसके तहत पंजाब के मेहनतकश लोगों को पंजाब की नदियों के पानी के अधिकारों को बचाने के लिए एकजुट होना चाहिए और साथ ही पूँजीवादी चुनावी पार्टियों की दोगली और भ्रामक राजनीति से सावधान रहना चाहिए।

पंजाब की नदियों के साथ-साथ पंजाबी राष्ट्र के अन्य मुद्दे (भाषा के आधार पर पंजाबी राज्य का पुनर्गठन, पंजाब के बाँधों का पूर्ण नियंत्रण, पंजाब विश्वविद्यालय और राजधानी चंडीगढ़ पर पूर्ण अधिकार) भारत के बाक़ी राष्ट्रों के मुद्दों से अलग नहीं हैं, बल्कि लगभग सभी राष्ट्रों का ही भारतीय राजसत्ता द्वारा किसी ना किसी रूप में शोषण होता रहा है। इसलिए, भारतीय यूनियन के ख़िलाफ़ सभी राष्ट्रों का एक आम संघर्ष भी बनता है और ऐसी साझेदारी बनाने के लिए यत्नशील होने की ज़रूरत है। राष्ट्रों के संबंध में नीचे दी गई ये वो माँगें हैं जो भारत की राजसत्ता के ख़िलाफ़ सभी राष्ट्रों की आम माँगें बनती हैं:

(1) हिंदी को थोपना बंद किया जाए और सभी भाषाओं को राष्ट्रीय भाषाओं का दर्जा दिया जाए।

(2) सभी राज्यों को भाषा के आधार पर पुनर्गठित किया जाए।

(3) राज्यों के अधिकारों पर हमला करना बंद किया जाए।

(4) भारत को एक संघीय (फ़ेडरल) देश यानी एक स्वैच्छिक यूनियन बनाया जाए, जिसमें सभी राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार होने के साथ ही अलग होने का अधिकार हो।

मोदी सरकार के नए पर्यावरण क़ानूनों का जनविरोधी चरित्र

पिछले समय में मोदी सरकार द्वारा प्रकृति से संबंधित दो बिल पेश किए गए, जैविक विविधता (संशोधन) बिल 2021 और वन संरक्षण (संशोधन) बिल 2023। ये दोनों बिल लोक सभा और राज्य सभा में पास होने के बाद क़ानून का रूप धारण कर चुके हैं। देश-स्तर पर सामाजिक कार्यकर्ताओं समेत पर्यावरण से संबंधित खोज करने वाले बुद्धिजीवियों के एक बड़े हिस्से द्वारा इन क़ानूनों को पर्यावरण और जनविरोधी करार दिया जा रहा है। इन क़ानूनों की कई मदों को जनजातीय और राज्यों के अधिकारों (ख़ासतौर पर उत्तर पूर्व के कई राज्यों) पर डाका डालने के तौर पर देखा जा रहा है। यहाँ हम इन क़ानूनों की कुछ प्रतिनिधि मदों पर अपनी बात करेंगे।

मोदी सरकार ने जैविक विविधता क़ानून 2002 में संशोधन करते हुए इस क़ानून का उल्लंघन करने वालो पर फौज़दारी (क्रिमिनल) मामलों की जगह दिवानी (सिविल) मामले दर्ज करने का प्रबंध किया है। मतलब पुराने क़ानून की जगह नए क़ानून में सज़ा काफ़ी कम हो जाएगी। इससे देशी-विदेशी पूँजीपतियों को पर्यावरण को अंधाधुंद बर्बाद करने का ज़्यादा मौक़ा मिल जाएगा और पर्यावरण क़ानूनों का उल्लंघन करने पर भी कोई ज़्यादा गंभीर मामला दर्ज होने की उम्मीद नहीं है। यह देशी-विदेशी पूँजीपतियों की भारत सरकार से काफ़ी लंबे समय से माँग थी, जिसे मोदी सरकार ने हालिया संशोधनों से पूरा किया है। साफ़ है कि पिछले पर्यावरण क़ानूनों में भी काफ़ी चोर रास्ते थे और कोर्ट में मामला दर्ज होने के बावजूद अपनी आर्थिक-राजनीतिक ताक़त द्वारा पूँजीपति ज़्यादातर इन केसों में से बच निकलते थे, पर इन नए संशोधनों से तो पूँजीपतियों को पहले से भी ज़्यादा छूट दी जा रही है। मोदी सरकार ने इन संशोधनों द्वारा राष्ट्रीय जैविक विविधता प्राधिकरण को ख़ुदमुख़्तियार विभाग से भारत सरकार के अधीन विभाग में बदल दिया है, जिसमें अब भारत सरकार के 16 अधिकारी और राज्यों के विभिन्न बोर्डों से 4 अधिकारी होंगे। साफ़ है कि भारत सरकार इसके ज़रिए अपने शासकों को मनमर्जी करने की छूट दे रही है।

मोदी सरकार के नए जंगल सरंक्षण क़ानून ने 1996 के गोदावरमन फ़ैसले को पलट दिया है, जिसमें 'डीमड जंगलों'(जंगलों के तुल माने जाने वाले इलाक़ों) को सुरक्षित रखने की पेशकश की गई थी। इसके द्वारा देश के लगभग 25 प्रतिशत जंगलों पर अब बेरोक-टोक खनन, शहरीकरण, औद्योगीकरण, बुनियादी ढाँचे के निर्माण के प्रोजेक्ट लगाए जा सकते हैं और पूँजीपतियों द्वारा ऐसा करना अब क़ानूनी दायरे में आता है! यह लाजिमी ही देश के लाखों-करोड़ों लोगों समेत जनजातीय समुदायों के अधिकारों पर डाका मारना है। अब पूँजीपतियों द्वारा इन जंगलों को उजाड़कर मुनाफ़े कमाना ग़ैर-क़ानूनी नहीं, बल्कि जनजातीयों आदि की तरफ़ से ऐसे प्रोजेक्टों का विरोध करना ग़ैर-क़ानूनी होगा। जंगल सरंक्षण क़ानून 2023 के तहत अब जनजातीय समुदाय और जंगलों में बसने वाले अन्य समुदाय जंगल अधिकार क़ानून 2006 के तहत अधिकार हासिल नहीं कर सकते। क़ानून के दायरे में अब इन समुदायों को बिल्कुल ही निहत्था कर दिया गया है।

जंगल सरंक्षण क़ानून 2023 के ज़रिए भारत अंतरराष्ट्रीय रेखा के 100 किलोमीटर के घेरे की अंदरूनी ज़मीन को जंगल सरंक्षण के दायरे से बाहर रखने के लिए "राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय महत्व और राष्ट्रीय अहमीयत वाले प्रोजेक्टों" का हवाला दिया गया है। इससे अंतरराष्ट्रीय सरहद पर लगने वाले जंगलों में रहने वाले समुदायों के अधिकारों पर डाका पड़ेगा और उनसे इसके ख़िलाफ़ कोर्ट जाने का अधिकार तक भी छीन लिया गया है। जंगल सरंक्षण क़ानून 2023 की इस मद की सबसे बड़ी मार उत्तर-पूर्व के राज्यों और राष्ट्रों पर पड़ेगी। इस क़ानून के अनुसार अरुणाचल प्रदेश, असम के जंगलों का बड़ा हिस्सा, नागालैंड की 90 फ़ीसदी ज़मीन, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा और मिज़ोरम की सारी ज़मीन जंगल सरंक्षण क़ानून के दायरे से बाहर हो जाएगी। भारत सरकार द्वारा उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों के अधिकारों पर डकैती, यहाँ की राष्ट्रीयताओं पर वहशीयाना ज़ुलम का लंबा इतिहास रहा है और यह क़ानून इन राष्ट्रों के अधिकारों पर एक और डकैती है। जंगल सरंक्षण क़ानून 2023 द्वारा न सिर्फ फ़ौज का बड़ी संख्या में इन जंगलों में बिठाई जा सकती है, बल्कि यहाँ चिड़ियाघर, पर्यावरणीय सैर-सपाटा (इको टूरिज़म) के प्रोजेक्ट भी लाए जा सकते हैं और इन पर किए गए फ़ैसलों में राज्य सरकार की बहुत ही छोटी भूमिका होगी।

साफ़ है कि ये नए पर्यावरण क़ानून पूँजीपतियों को पर्यावरण की बरबादी द्वारा मुनाफ़े कमाने के लिए खुली छूट देना है और साथ ही यह जनजातीय लोगों, जंगल में रहने वाले और अपनी रोजी-रोटी के लिए जंगल पर निर्भर समुदायों, राष्ट्रीयताओं के अधिकारों पर खुलेआम डाका है। पर साथ ही हमें यह भी याद रखना चाहिए कि यह केवल मोदी सरकार की कोई दिमाग़ी खोज नहीं है, बल्कि मोदी सरकार की ये नीतियाँ उन हुक्मरानों, पूँजीपतियों की ज़रूरतों से निकली हैं। कांग्रेसी नेता आज इन क़ानूनों के हवाले से पर्यावरण की तबाही सबंधी घड़ियाली आँसू बहा रहे हैं, लेकिन ख़ुद कांग्रेस सरकार ने इन नए क़ानूनों में शामिल कई मदों को पुराने पर्यावरण

(पन्ना 5 पर जारी)

इज़रायली कब्ज़े के ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीनी जनता का संग्राम

(पन्ना 16 से आगे)

से बचे यहूदियों को शरण देने से हाथ खड़े कर दिए गए और दूसरी ओर फ़िलिस्तीन में यहूदीवादियों द्वारा इन यहूदियों को बसाने और फ़िलिस्तीनियों को उजाड़ने की अपनी कोशिशों को अंजाम देना शुरू कर दिया गया। अमेरिका नए साम्राज्यवादी चौधरी के रूप में संसार मंच पर उभरा। अमेरिका ने भी मध्य-पूर्व में अपने हितों को देखते हुए यहूदीवादी इज़रायली राज्य में अपना भविष्य देखा।

1947 में इज़रायल की स्थापना के लिए फ़िलिस्तीन के बँटबारे से संबंधित संयुक्त राष्ट्र में प्रस्ताव पारित कर दिया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार, यहूदीवादियों को फ़िलिस्तीन का 56 फ़ीसदी हिस्सा दिया गया। अगर एक समय के लिए ब्रिटिशों द्वारा ज़बरन कई दशकों में बसाए यहूदियों के तथ्य को छोड़ भी दें, तो भी यह बँटवारा नाजायज़ था। उस समय फ़िलिस्तीन में 6,50,000 यहूदी रह रहे थे, जबकि फ़िलिस्तीनियों की कुल आबादी (ज़बरन उजाड़े के बाद भी) 13,50,000 थी। लेकिन अगर ब्रिटिश और अमेरिका जैसे साम्राज्यवादी लुटेरों के हितों का सवाल हो तो सारे नियम-कायदे निलंबित किए जा सकते हैं।

'नकबा': फ़िलिस्तीनी लोगों का क़त्लेआम और ज़बरन उजाड़ा

इज़रायल की नींव रखने वाले डेविड बेन-गुरियन का आदेश था कि, "फ़िलिस्तीनियों पर हर हमला क़ब्ज़े, तबाही और उजाड़े के साथ ख़त्म होना चाहिए।" इन हिंसक हमलों के दौरान लगभग 10 लाख फ़िलिस्तीनी लोगों को उजाड़ा गया। उजाड़े गए इन लोगों को अपने साथ केवल बुनियादी ज़रूरत की चीज़ें ही ले जाने दी गईं। बड़े पैमाने पर फ़िलिस्तीनी लोगों की फ़सलें तबाह कर दी गईं। बहुत सारे लोगों का क़त्ल, बलात्कार किया गया। आतंक का यह चक्र 1947 से 1949 के शुरुआती महीनों तक जारी रहा। इसी दौरान यहूदीवादियों द्वारा हुए 31 क़त्लेआम दस्तावेज़ों में दर्ज हैं, जबकि वास्तविक संख्या 70 से अधिक बताई जाती है। यहूदीवादी नेताओं की डायरियों के आधार पर किए गए कई इतिहासकारों के अध्ययनों के अनुसार लगभग 700 से अधिक फ़िलिस्तीनी गाँव उजाड़े गए, जो कि फ़िलिस्तीनी गाँवों की आधी गिनती हैं। ये गाँव फ़िलिस्तीनी अर्थव्यवस्था और राजनीति के केंद्र के रूप में भूमिका निभा रहे थे। इज़रायली सेना के अलावा फ़िलिस्तीनियों के ज़बरन उजाड़े और क़त्लेआम के लिए आतंकवादी समूहों का भी इस्तेमाल किया गया। 1949 तक इज़रायल ने 78 फ़ीसदी फ़िलिस्तीन पर क़ब्ज़ा कर लिया।

1967 के अरब-इज़रायल युद्ध के दौरान इज़रायल ने फ़िलिस्तीन के बाक़ी बचे हिस्से ग़ाज़ा और वेस्ट बैंक पर भी क़ब्ज़ा कर लिया, जिसके दौरान 3 लाख फ़िलिस्तीनी लोगों को उजाड़ा गया। जून 1967 में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद द्वारा प्रस्ताव-242 पारित किया गया और इज़रायल को युद्ध के दौरान क़ब्ज़े में लिए गए फ़िलिस्तीनी क्षेत्रों में से अपनी सेना को बाहर निकालने के लिए कहा गया। इसे इज़रायल ने नामंजूर कर दिया।

इज़रायली क़ब्ज़े में फ़िलिस्तीनियों के हालात

2001 में ग़ाज़ा पट्टी में शुरू हुई फ़िलिस्तीनी लोगों की बग़ावत के परिणामस्वरूप इज़रायल को अपनी सेना बाहर निकालनी पड़ी। 2007 से फ़िलिस्तीनी आबादी के इस हिस्से की इज़रायल द्वारा घेराबंदी की हुई है। इज़रायल ने हवाई क्षेत्र और समुद्री तट पर क़ब्ज़ा किया हुआ है। इसके अलावा ज़मीनी रास्ते को भी 700 किलोमीटर लंबी दीवार बनाकर फ़िलिस्तीनियों की मुख्य सड़कों से पहुँच बंद की हुई है। इस नाकाबंदी के कारण ग़ाज़ा पट्टी के लोगों को बुनियादी मानवीय ज़रूरत की चीज़ें जैसे दवा, खाने के सामान के लिए भी मिस्र की सीमा के नीचे खोदी गई ख़तरनाक सुरंगों में से आना-जाना पड़ता है। इज़रायल की धक्केशाही इतनी ज़्यादा है कि फ़िलिस्तीनी लोगों को मानवतावादी आधार पर पहुँचने वाली सहायता को भी ग़ाज़ा पट्टी के अंदर नहीं पहुँचने दिया जाता। वेस्ट बैंक और ग़ाज़ा पट्टी के बीच में महज एक घंटे के रास्ते पर इज़रायल ने सैकड़ों चेक-पोस्टें बना रखी हैं, जिन्हें पार कर पाना आम फ़िलिस्तीनियों के लिए असंभव है, जिस कारण फ़िलिस्तीनी लोग कच्चे रास्तों, पगडंडियों से होकर आते-जाते हैं। लेकिन ये ख़तरे से ख़ाली नहीं हैं। इन रास्तों पर इज़रायली सेना अक्सर ही फ़िलिस्तीनी लोगों को आतंकवादी बताकर गोली मार देती है। इस छोटी-सी पट्टी में लगभग 21 लाख फ़िलिस्तीनी रह रहे हैं।

इज़रायली क़ब्ज़े वाले वेस्ट बैंक का इलाक़ा तीन इलाक़ों में बँटा हुआ है। एक इलाक़ा पूरी तरह फ़िलिस्तीनी नियंत्रण में है, जो कुल वेस्ट बैंक के इलाक़े का 18 फ़ीसदी है। दूसरा इलाक़ा फ़िलिस्तीन और इज़रायल के संयुक्त नियंत्रण में है, यह कुल इलाक़े का 22 फ़ीसदी है। इस इलाक़े के स्वास्थ्य, शिक्षा और अर्थव्यवस्था फ़िलिस्तीनी प्राधिकरण के नियंत्रण में है, जबकि बाहरी सुरक्षा पूरी तरह इज़रायल के नियंत्रण में है। तीसरा इलाक़ा पूरी तरह इज़रायल के नियंत्रण में है, यह कुल इलाक़े का 60 फ़ीसदी है। वेस्ट बैंक के क्षेत्र में लगभग 4,60,000 इज़रायली (आवासी) बसे हुए हैं, जोकि अंतरराष्ट्रीय नियमों के अनुसार ग़ैर-क़ानूनी हैं। इस इलाक़े में फ़िलिस्तीन की आबादी 27 लाख है।

इसके अलावा येरूशलम का इलाक़ा पूरी तरह इज़रायली नियंत्रण में है। येरूशलम के पश्चिमी इलाक़े में बहुसंख्यक इज़रायली रह रहे हैं और अल्पसंख्यक लगभग 4500 फ़िलिस्तीनियों की है। पूर्वी इलाक़े में 3,45,000 फ़िलिस्तीनी रह रहे हैं, इसके अलावा पिछले कई दशकों के दौरान 2,20,200 यहूदी लोगों को ज़बरन फ़िलिस्तीनी लोगों को उजाड़कर बसाया गया, जो मौजूदा समय में भी जारी है। यही वह इलाक़ा है, जहाँ फ़िलिस्तीनियों की अल-अक्सा मस्जिद है।

फ़िलिस्तीन-इज़रायल मुद्दे को "हल" करने के लिए साम्राज्यवादियों द्वारा सुझाए जाते 'टू स्टेट' के हल का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। उपरोक्त ऐतिहासिक तथ्य यह साबित करते हैं कि मध्य-पूर्व के इस हिस्से में फ़िलिस्तीनी ही एक राष्ट्र बनते हैं। यहूदी एक धर्म है जिसकी आबादी अलग-अलग राष्ट्रियताओं में बँटी हुई है, फ़िलिस्तीन में बसे यहूदी भी अलग-अलग राष्ट्रीय पहचान वाले हैं। इसलिए फ़िलिस्तीन और इज़रायल का मुद्दा दो राष्ट्रों – यहूदी बनाम फ़िलिस्तीनी का मुद्दा नहीं है, बल्कि एक साम्राज्यवादी प्रोजेक्ट के रूप में स्थापित किए यहूदीवादी इज़रायल के क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीनी लोगों की राष्ट्रीय मुक्ति का मुद्दा है।

इज़रायली क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष

यहूदीवादी क़ब्ज़े की शुरुआत से ही फ़िलिस्तीनी लोग ज़िंदगी और मौत के संघर्ष लड़ रहे हैं। 1936 में फ़िलिस्तीनियों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ और यहूदीवादियों के ख़िलाफ़ हथियारबंद संघर्ष शुरू किया गया था। ब्रिटिशों द्वारा इस संघर्ष को बेरहमी से दबा दिया गया और हथियार समेत किसी भी फ़िलिस्तीनी को देखते ही गोली मारने का क़ानून बना दिया गया था। जब-जब भी फ़िलिस्तीनियों के संघर्ष को हिंसा से दबाया गया, हर बार नए आंदोलन और संघर्ष के नए तरीक़ों के साथ फ़िलिस्तीनी लोग फिर से संघर्ष के मैदान में उतर आए। 1960 के दशक के वैश्विक जन-उभार के दौरान फ़िलिस्तीनी गुरिल्ला-लड़ाकों ने इज़रायल के ख़िलाफ़ हथियारबंद संघर्ष शुरू किया। यासर अराफ़ात के नेतृत्व वाले फ़िलिस्तीन मुक्ति संगठन (पी.एल.ओ.) और फ़तह संगठन इस हथियारबंद आंदोलन में लोकप्रिय और शक्तिशाली संगठनों के रूप में उभरे। बाद में ये संगठन जड़ता के शिकार हो गए और इनके नेता लगातार अरब देशों पर निर्भर होते गए, जो अमेरिकी साम्राज्यवाद के सामने एक के बाद एक घुटने टेक रहे थे। एक समय पर आकर इन संगठनों ने इज़रायल के साथ समझौता कर लिया और फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष से ग़द्दारी करके इज़रायली छत्रच्छाया वाले तथाकथित छोटे-राज्य के एजंडे के लिए हाथ-पैर मारने लगे। इसके साथ ही ज़्यादा रेडिकल संगठन कायम होने लगे, हमास इनमें से एक संगठन के रूप में सामने आया है, जो विचारधारा से इस्लामिक कट्टरपंथी संगठन है। इसी दौरान 1988 में पहला "इंतिफ़ादा" आंदोलन शुरू हुआ, जिसके परिणामस्वरूप 1933 में "ओस्लो घोषणा" हुई। इस घोषणा के परिणामस्वरूप फ़िलिस्तीनी लोगों को सीमित अधिकार मिले। हमास का आधार फैलता गया और ग़ाज़ा पट्टी के क्षेत्र में हमास ने फ़िलिस्तीन मुक्ति संगठन को लोगों में से बाहर निकाल दिया। ग़ाज़ा पट्टी को विशेष रूप में निशाना बनाने का कारण हमास का ग़ाज़ा पट्टी में पक्का आधार होना और अधिक से अधिक फ़िलिस्तीनी लोगों में हमास का आधार फैलते जाना है।

हमास फ़िलिस्तीनी लोगों में इतनी जगह बना चुका संगठन है कि पूरी आबादी को ख़त्म करके ही हमास का ख़ात्मा हो पाएगा, जोकि संभव नहीं है। अगर हमास को ख़त्म भी कर दिया गया, तो कोई दूसरा संगठन उसकी जगह ले लेगा। बल्कि मध्य-पूर्व के विश्लेषकों का मानना है कि फ़िलिस्तीनी लोगों का मौजूदा उभार 1948 के बाद का सबसे बड़ा जन-उभार है। क्योंकि पहले संघर्षों का मुख्य केंद्र ग़ाज़ा था, लेकिन इस बार इज़रायल के दिल येरूशलम समेत पूरे फ़िलिस्तीनी क्षेत्र में बग़ावत का लावा उबल रहा है। इसके अलावा विभिन्न अरब क्षेत्रों में बसे फ़िलिस्तीनी भी अपनी मातृभूमि के लिए आवाज़ बुलंद कर रहे हैं और स्थानीय अरब आबादी इस संघर्ष में उनका समर्थन कर रही है। इसी वजह से अमेरिका के चमचे कई अरब देशों को भी इज़रायल के विरोध में बयान देने के लिए मज़बूर होना पड़ रहा है। भविष्य में घटनाएँ क्या रूप लेंगी, यह कहना कठिन है, लेकिन आज नहीं तो कल फ़िलिस्तीन के लोग इन अत्याचारी हमलावरों से अपनी मातृभूमि को अवश्य मुक्त करवाएँगे।

– तजिंदर

MUKTI SANGRAM • RNI Tital Code – PUNHIN01976 • Monthly • Volume 1 • Issue no. 3 • November 2023 • Rs.10 • Place of Publication – Dist. Ludhiana, Punjab

इज़रायली कब्ज़े के ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीनी जनता का संग्राम

हमास द्वारा इज़रायल पर एक हमले के बाद इज़रायल द्वारा ग़ाज़ा के ख़िलाफ़ भयानक युद्ध छेड़ दिया गया है। संसार के सबसे घनी आबादी वाले इस इलाक़े जिसमें 20 लाख से ज़्यादा फ़िलिस्तीनी (जिनमें 47 फ़ीसदी बच्चे हैं और 10 लाख से अधिक लोग शरणार्थी शिविरों में रह रहे हैं) 2007 से इज़रायली घेराबंदी वाली एक खुली जेल में रह रहे हैं। इस पर इज़रायल द्वारा लगातार बम गिराए जा रहे हैं, जिनमें रिहाइशी इलाक़े, धार्मिक स्थान और यहाँ तक कि स्कूल और अस्पतालों पर भी हमले किए जा रहे हैं। 28 अक्टूबर तक इज़रायली बमों से 6000 से अथिक फ़िलिस्तीनी लोगों का क़त्ल किया जा चुका है, जिनमें 2400 से अधिक बच्चे हैं और लगभग 1200 से अधिक महिलाएँ हैं, 15 हज़ार से ज्यादा लोग इन हमलों में बुरी तरह घायल हुए हैं, 19 अस्पतालों पर हमला किया गया है। 23 लाख की आबादी में से 14 लाख आबादी को अपने घर-बार छोड़ने पड़ गए हैं। छः लाख के करीब लोगों ने स्कूलों मे शरण ली है। गाज़ा इलाके की 40 प्रतिशत रिहायशी इमारतें तबाह हो गई हैं। दक्षिणी गाज़ा पर भी बंबारी की जा रही है जहाँ शरण लेने के लिए लोगों को कहा गया था। दक्षिण की ओर जाने वाले लोगों पर भी ड्रोनों और जंगी जहाजों से कायराना हमले किए जा रहे हैं।

फ़िलिस्तीनी लोगों के इस क़त्लेआम को संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व वाले पश्चिमी साम्राज्यवादी देश ना केवल मूक दर्शक बनकर देख रहे हैं, बल्कि इसमें इज़रायल को हर प्रकार से समर्थन भी दे रहे हैं। और ये समर्थन दें भी क्यों ना, फ़िलिस्तीनयों को उजाड़कर इज़रायल की स्थापना मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हितों को पूरा करने के लिए ही की गई थी।

इज़रायल के मानवता विरोधी अपराधों को जायज़ ठहराने के लिए मीडिया में इज़रायल बनाम हमास, यहूदी बमाम अरब की पेशकारी की जाती रही है। यह बुनियादी तथ्य ग़ायब कर दिया जाता है कि इज़रायली राज्य का निर्माण ही फ़िलिस्तीनी लोगों की क़ब्रों पर हुआ है। इसकी कोई चर्चा नहीं होती कि फ़िलिस्तीनी लोग अपने राष्ट्रीय राज्य के लिए दशकों से बिना किसी पारंपरिक सेना के एक ऐसी हमलावर शक्ति के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं, जो आधुनिक राज्य मशीनरी – पूर्ण विकसित नौसेना, थल सेना और वायु सेना से लैस है। इज़रायल-फ़िलिस्तीन मुद्दे को समझने के लिए हम यहाँ इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

यहूदीवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद

यहूदीवादी विचारधारा (जिसका उद्देश्य था एक यहूदी राज्य स्थापित करना) को सबसे पहले थियोडोर हर्ज़ल द्वारा 19वीं सदी के अंत में सूत्रबद्ध किया गया था। इज़रायली यहूदीवादियों द्वारा फ़िलिस्तीन को यहूदियों के एकमात्र "घर" के रूप में प्रचारित किया जाता है। लेकिन ऐतिहासिक तथ्य यह है कि यहूदीवादियों का मुख्य उद्देश्य केवल एक यहूदी राज्य स्थापित करना था, जिसके लिए वे किसी भी साम्राज्यवादी शक्ति के जूते चाटने को तैयार थे। इज़रायली यहूदीवादियों के ये पूर्वज किसी भी साम्राज्यवाद के किसी भी उपनिवेश में यहूदी राज्य स्थापित करने के लिए तैयार थे। उदाहरण के लिए, फ़िलिस्तीन में यहूदियों को बसाने से पहले इंग्लैंड द्वारा यहूदीवादी राज्य को अपनी पूर्वी अफ़्रीकी उपनिवेशों में बसाने का प्रस्ताव रखा गया था। यहूदियों के लिए "घर" के लिए ब्रिटिश उपनिवेश युगांडा में बसाने के लिए चर्चा भी हुई थी (लेकिन इस योजना के लागू होने से पहले ही ब्रिटिशों द्वारा रद्द कर दी गई थी)। इसके अलावा ब्रिटिश क़ब्ज़े वाले दक्षिण अमेरिका संबंधी भी योजनाए बनीं। जर्मन शासकों और यहूदीवादी नेताओं में भी अफ़्रीका में मेडागास्कर के बारे में समझौता हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध और फ़िलिस्तीन में यहूदियों का प्रवास

1914 में साम्राज्यवादी लूट के लिए एशिया, अफ़्रीका के देशों पर क़ब्ज़े के लिए चल रहे संघर्ष का पहले विश्व युद्ध के रूप में विस्फोट हुआ। पहले विश्व युद्ध में एक ओर इंग्लैड, फ़्रांस, अमेरिका और दूसरी ओर जर्मनी, ऑस्ट्रो-हंगेरियन और ओटोमन (तुर्की) सल्तनत थीं। इसके दौरान ऑटोमन साम्राज्यवाद का पतन हो गया। अपने तेल के प्राकृतिक संसाधनों और युद्धनीतिक महत्व के कारण, मध्य-पूर्व विजयी साम्राज्यवादी शक्तियों में युद्ध के बाद झगड़े का केंद्र बन गया, विशेषकर इंग्लैंड और फ़्रांस में। ऑटोमन साम्राज्यवाद के पतन के बाद संसार का यह क्षेत्र फ़्रांस और इंग्लैड में बँट गया। फ़्रांस ने सीरिया और लेबनान पर क़ब्ज़ा कर लिया और बाक़ी के बड़े हिस्से सहित इराक़, जॉर्डन और फ़िलिस्तीन पर इंग्लैंड ने क़ब्ज़ा कर लिया।

जैसा कि ऊपर ज़िक्र किया गया है कि यहूदीवादी हर्ज़ल द्वारा पहले ही फ़िलिस्तीन में इंग्लैंड की चौकी के रूप में यहूदी राज्य के लिए इंग्लैंड के साम्राज्यवादी शासकों के आगे घुटने टेके जा रहे थे। अब फ़िलिस्तीन इंग्लैंड के क़ब्ज़े में आ गया था, इसलिए इंग्लैंड के शासक वर्ग ने भी यहूदीवाद की इस योजना को निर्णायक ढंग में अपनाना शुरू कर दिया। इसके परिणामस्वरूप फ़िलिस्तीन में यहूदी राज्य स्थापित करने के लिए 1917 का प्रसिद्ध बाल्फ़ोर घोषणापत्र लाया गया। इसके बाद यहूदीवादी नेताओं द्वारा इंग्लैंड के सरंक्षण में फ़िलिस्तीन में यहूदियों को बसाना शुरू कर दिया गया।

फ़िलिस्तीन में पहले कौन रहता था?

यहूदीवादी आंदोलन का मिथिहास यह दावा करता है कि फ़िलिस्तीन "भूमि से वंचित लोगों के लिए लोगों से वंचित भूमि" थी। लेकिन ऐतिहासिक तथ्य यह है कि फ़िलिस्तीनी लोग पहले ही इस क्षेत्र में सदियों से रह रहे हैं। जब यहूदीवादियों ने 1880 में रूप लिया और साम्राज्यवादी शक्तियों को अपनी इस योजना की ओर आकर्षित करना शुरू किया, उस समय फ़िलिस्तीन में 24,000 यहूदी और 4,50,000 फ़िलिस्तीनी रह रहे थे। यहूदी आबादी का एक छोटा-सा हिस्सा ही ऐसा था, जिसकी जड़ें सदियों पहले उनके पूर्वजों से जुडी हुई थीं। बाक़ी के रूढ़िवादी (ऑर्थोडॉक्स) यहूदी थे, जो धार्मिक कारणों के चलते यूरोप से येरूशलम में रह रहे थे। इन दोनों को मिलाकर यहूदी कुल आबादी का 5 फ़ीसदी हिस्सा बनते थे। यह पाँच फ़ीसदी यहूदी आबादी भी यहूदी राज्य की यहूदीवादी योजना के प्रति बिल्कुल भी प्रतिबद्ध नहीं थी। बाद के दशकों में (विशेषकर बीसवीं सदी की शुरुआत में) यहूदीवादियों ने साम्राज्यवादी संरक्षण से यूरोप के विभिन्न हिस्सों से यहूदियों के प्रवास को प्रोत्साहित किया। लेकिन इस प्रवास के बावजूद भी अधिकारिक ब्रिटिश जनगणना के आँकड़ों के अनुसार 1922 तक यह आबादी कुल आबादी का केवल 11 फ़ीसदी ही थी।

प्रथम विश्व युद्ध से पहले और इसके दौरान फ़िलिस्तीन की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था अस्तित्व में आने लगी और मध्य-पूर्व के इस हिस्से में बसने वाले लोगों में से फ़िलिस्तीन ने एक राष्ट्र के रूप में उभरना शुरू किया। इस उभर रहे फ़िलिस्तीनी राष्ट्र में बहुसंख्या मुस्लिम थे, लेकिन इसके साथ ही एक छोटी अल्पसंख्या लगभग 11 फ़ीसदी ईसाई थे। इन फ़िलिस्तीनी लोगों की साझी संस्कृति और भाषा (अरबी की एक उपबोली) और कृषि निर्यात और शुरुआती उद्योग विशेष रूप में जैतून के तेल के निर्यात पर आधारित व्यापारिक ढाँचा और संस्थाएँ थी। फ़िलिस्तीनी राष्ट्र के संघर्ष ने पहले ऑटोमन सल्तनत और बाद में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के विरोध में रूप लिया।

1920-1930 का समय यूरोप में तीखे राजनीतिक ध्रुवीकरण का समय था। इसी समय जहाँ एक ओर क्रांतिकारी आंदोलन का उदय अपने चरम पर था, वहीं दूसरी ओर प्रतिगामी-फ़ाशीवादी आंदोलनों का भी उभार हो रहा था। इस दौरान ही जर्मनी में नाज़ियों के साथ ही पूर्वी यूरोप में यहूदियों के ख़िलाफ़ नफ़रत पर आधारित फ़ाशीवादी आंदोलन उभर रहे थे। इस दौरान बड़े पैमाने पर यहूदीवादियों द्वारा यहूदियों को फ़िलिस्तीनी लोगों की भूमि पर ज़बरदस्ती से बसाया गया। इस समय यहूदीवादियों और फ़िलिस्तीनियों में हथियारबंद्ध झड़पें भी हुईं और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की मदद से एक शक्तिशाली यहूदीवादी अर्धसैनिक बल अस्तित्व में आया।

साम्राज्यवादी चौकी के रूप में इज़रायल की स्थापना

दूसरे विश्व युद्ध के बाद एक ओर यूरोप और अमेरिका द्वारा नाज़ी क़त्लेआम

(पन्ना 15 पर जारी)

मालिक, प्रकाशक और मुद्रक रविंदर कौर द्वारा न्यू दशमेश प्रिंटर्ज, पता – 178-179, रणजीत नगर, जलंधर, पंजाब–144001 से मुद्रित और
उन्हीं द्वारा म.नं. 212, वी.पी.ओ. – पख्खोवाल, तहसील – रायकोट, ज़िला – लुधियाणा, पंजाब – 141108 से प्रकाशित। संपादक – लखविंदर सिंह